॥ ओ३म् ॥

वैदिक वन्दन

[वेद मन्त्रों की सरल सुबोध व्याख्या]

लेखक

सत्यकाम विद्यालंकार

गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी-संस्करण
गोविन्दराम हासानन्द स्वर्णजयन्ती संस्करण

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८ नई सड़क दिल्ली

मूल्य : सात रुपये

संस्करण : प्रथम मार्च १९७४

मुद्रक : एस नारायण एण्ड सन्स
७११७ पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६

आमुख

"वेद सार्वभौम ईश्वरीय ज्ञान है"—"वेद सब धर्मों का मूल ग्रन्थ है"—'वेदों का पढ़ना पढ़ाना सब आर्यों का परम कर्तव्य है'—आदि वाक्यों को सत्य मानने वाले और इनकी सचाई पर पूरी आस्था रखने वाले श्रद्धालु व्यक्तियों में भी ऐसे बहुत कम हैं जो वेद मन्त्रों का ठीक-ठीक अर्थ जानते हों।

'वैदिक वन्दन' का ध्येय यही है कि ऐसे श्रद्धालु व्यक्ति वेद मन्त्रों के अर्थ से पूर्णतः परिचित हों और इस परिचय से उन्हें जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में सफलता मिले।

वैदिक वाङ्मय में अनेक ऐसे स्थल हैं जो अभी तक रहस्य-मय हैं। उनमें भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान के गूढ़ रहस्य आज तक छुपे हुए हैं। किसी भी भाष्यकार ने उन गूढ़ार्थों को मानवज्ञान के सामान्य स्तर पर लाने का सफल प्रयत्न नहीं किया। शायद यह संभव भी नहीं है। ईश्वरीय ज्ञान को मान-वीय ज्ञान की कोटि में लाने का कोई भी प्रयत्न पूर्णतः सफल नहीं हो सकता।

'वैदिक वन्दन' के लेखक का लक्ष्य भी उस गूढ़ ज्ञान को—चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक—व्यावहारिक स्तर पर लाना नहीं है। यह कार्य बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों या भाष्य कारों द्वारा ही संपन्न होगा। प्रस्तुत पुस्तक का ध्येय केवल कुछ ऐसे मन्त्रों की सरल व्याख्या करना है जो किसी भी स्वाध्याय शील व्यक्ति के जीवन को नयी प्रेरणा दे सकते हैं; और उसके

जीवन में आस्था, उत्साह, गौरव और मानव मात्र के लिये कल्याण की भावना भर सकते हैं।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक के निरन्तर स्वाध्याय से पाठक को आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति अवश्य होगी। आनन्द की इस अनुभूति से मनुष्य का जीवन समृद्ध होता है। उसे अच्छे काम करने का नया उत्साह मिलता है। उसके स्वभाव में सभी अच्छे गुणों का समावेश सहज ही हो जाता है।

वैदिक ऋचाओं में ईश्वर स्तुति की ऋचाएं पर्याप्त बहुलता से हैं। ईश्वर स्तवन के लिए वेद-ऋचाओं से अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई माध्यम नहीं हो सकता। ऋचाओं के शब्द इतने मधुर और प्रभावशाली हैं कि उनके उच्चार मात्र से हृदय में अनुपम सात्विक आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता है। किन्तु उनका अर्थ समझकर जिस दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है वह अनिर्वचनीय है। किसी भी अन्य साहित्यिक अभिव्यक्ति या काव्यग्रन्थ के पाठ से वैसी आह्लादकारी अनुभूति सिद्ध नहीं हो सकती।

उस अनुभूति को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। केवल यह कहा जा सकता है कि इन ऋचाओं के श्रद्धापूर्वक पाठ से यह आभास होने लगता है कि हम ईश्वर के बहुत निकट आ गये हैं। ईश्वरीय प्रकाश की किरणों से हृदय में नये प्रकाश का अभ्युदय हो जाता है और मन स्वयं निःश्रेयस के लक्ष्य की ओर चल पड़ता है। इस स्वाध्याय से मन का मैल स्वयं धुल जाता है। वह इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें ईश्वरीय प्रकाश का प्रतिबिंब बहुत स्पष्ट झलकने लगता है।

'वैदिक वन्दन' में अनेक मन्त्र प्रार्थना की शैली में हैं। वैदिक प्रार्थना केवल दीन भावना से भिक्षा मांगने की नहीं है। वेदों में 'अदीनाः स्याम' की घोषणा की गयी है। वैदिक प्रार्थना का

उद्देश्य मन को संकल्पशील बनाना, मानसिक शक्ति को तीव्र करना एवं निष्काम कर्म करते हुए प्रभु-समर्पित जीवन बनाने से है। वैदिक मन्त्रों से मानव संकल्प को प्रभु का आशीर्वाद प्राप्त होता है। वेदों में अनगिनत ऋचाएं ऐसी है जो मुख्यतः आशीर्वादात्मक हैं तथा मनुष्य को उसके गौरव का स्मरण दिलाती हैं।

प्रस्तुत ऋचाओं में बहुत से मन्त्र आदेशात्मक भी हैं। इन ऋचाओं में ईश्वर ने मनुष्य को संबोधित करके उसके कर्तव्य कर्म की आज्ञा दी है। स्वाध्याय प्रिय श्रद्धालु पाठक का कर्तव्य है कि वह इन आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करे। ये आदेश व्यक्तिगत जीवन को भी दिशा देते हैं एवं सामाजिक जीवन की आचारसंहिता का निर्देशन भी करते हैं। वेदों में समष्टि धर्म को व्यष्टि धर्म से कम महत्व नहीं दिया गया; यहां तक कि वैदिक प्रार्थनाएँ भी प्रायः बहु वचनात्मक है।

वैदिक ऋचाओं की व्याख्या के लिए सैंकड़ों भाष्य ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। भविष्य में भी लिखे जायेंगे। जैसे ईश्वरीय सृष्टि का विस्तार अनन्त है वैसे ही ईश्वरीय ज्ञान भी अनन्त है। मनुष्य का परिमित ज्ञान उसकी छोटी-छोटी सीमाओं को ही छू सकता है। इसीलिए भाष्यकारों में मतभेद होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने उन मतभेदों की उलझन में बिना फंसे प्रायः ऐसे ही मन्त्रों का चयन किया है जो असन्दिग्ध रूप से प्रेरणात्मक हैं और जिनका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल है।

मेरा यह दावा नहीं कि इन मन्त्रों की कोई भी ऐसी व्याख्या नहीं हो सकती जो प्रस्तुत पुस्तक में लेख बद्ध व्याख्या से भिन्न हो। एक ही वेद मन्त्र की अनेक रूप से व्याख्या हो सकती है और विभिन्न व्याख्याओं के सभी रूप यथार्थ हो सकते हैं।

पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे किसी भी मतभेद में न उलझकर प्रस्तुत ऋचाओं के पाठ एवं उनकी भावना को हृदयंगम करें, एवं स्वयं चिन्तन द्वारा और भी गहराई में जाकर ऋचाओं का आनन्द लें। मेरी व्याख्या को वे भूमिका मात्र समझें। असली आनन्द तो उन्हें तब आयेगा जब वे स्वयं चिन्तन करेंगे और गहरे उतरकर इस अन्त अनन्त ज्ञानसागर के मोती स्वयं चुनेंगे।

—सत्यकाम विद्यालंकार

क्रम

स्तुति परक मन्त्र

प्रार्थना परक मन्त्र

ईश्वरीय आदेशात्मक वन्दन

संकल्पात्मक वन्दन

तात्विक

१

देवता : पवमानः सोमः ।

इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥

साम पूर्वार्चिक : ६।३।१० ॥

(**मरुत्वते**) अतुल बलशाली (**इन्द्राय**) अमृतपुत्र मानव के लिए (**सोमः सुतः**) आध्यात्मिक आनन्द का प्राणदायी प्रवाह (**पवते**) बह रहा है। (**सहस्रधारः अति अव्यम् अर्षति**) यह, सहस्र धाराओं में बहने वाला प्रवाह इन्द्र के रोम-रोम, अंग-अंग में समा रहा है (**तं आयवः परि मृजन्ति**) उस सदा-प्रवाही अध्यात्म धारा का परिमार्जन प्रज्ञामय प्रभु की किरणें सदा करती रहती हैं।

आध्यात्मिक आनन्द सर्व-समर्थ अमृतमय इन्द्र को ही मिलता है। सामर्थ्यवान् आत्मा वह है जो इन्द्रियों को वश में रखता है; स्वयं इन्द्रियों के वश में नहीं होता। संसारी भोगों से अनासक्त रहकर जो केवल प्रभु-प्रेरित कार्यों को करता है, वही आत्मा आध्यात्मिक आनन्द का अधिकारी बनता है।

ऐसे विजयी मानव के लिए जगत् में आनन्द के सब द्वार खुल जाते हैं। सामान्यतः दुःखमय कहा जाने वाला संसार आत्मजयी मनुष्य के लिए सहस्र-धाराओं में प्रवाहित होने वाले

आनन्द का स्रोत बन जाता है। उसके मन में भोग की कामना पैदा ही नहीं होती। वह आप्तकाम हो जाता है।

ऐसे सदा तृप्त आत्मा का झुकाव विषय-भोग की ओर नहीं होता है। विषय-भोग का चिन्तन न होने से वह सदैव असंग और निष्काम रहता है। उसके सब कर्म निष्काम वृत्ति से केवल परोपकार के लिए किये जाते हैं।

निष्काम कर्म में प्रवृत्त मनुष्य को जीत-हार की चिन्ता नहीं रहती। निःस्वार्थ सेवा से ही उसका जीवन सार्थक होता है। स्थितप्रज्ञता सहसा ही उसके स्वभाव में आ जाती है। उसका मन चंचल नहीं होता, संशयालु नहीं होता। पराजय या अतृप्ति का अन्धकार कभी उसके मार्ग का अवरोध नहीं करते। परम प्रभु की प्रज्ञामयी किरणें उसका मार्गदर्शन सदैव करती रहती हैं।

काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकारों से वह इन्द्र कभी पराभूत नहीं होता। उसके रोम-रोम में प्रभु का आनन्द रम जाता है। आनन्द की सहस्र धाराएँ उसकी धमनियों में प्रवाहित होती रहती हैं।

ऐसी सर्वतोमुखी आनन्दमयी स्थिति पर पहुंचने के लिए मनुष्य को इन्द्र बनना होगा; अपनी बहिर्मुख इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना होगा। सब प्रकार की कामनाओं का परित्याग करके निष्काम बनना होगा। विषय-वासनाओं से मुख मोड़कर मन को आत्माभिमुख करना होगा। अपने सच्चे स्वरूप को पहचानकर उस स्वरूप में ही अपने को स्थिर करना होगा।

ऐसे आत्मज्ञानी, सर्वजयी इन्द्र का जीवन परम प्रभु के सहस्रधार प्रवाहित आनन्द-सागर में स्वयं ही आप्लावित होगा।

२

देवता : आत्मा ।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ
हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य
संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ।।

अथर्व : १०।८।१८ ।।

(**स्वर्गं पततः**) स्वर्ग को जाते हुए (**अस्य**) इस (**हरेः हंसस्य**) जीवात्मा हंस के (**पक्षौ**) पंख (**सहस्राह्ण्यं**) सहस्रों दिनों से (**वियतौ**) खुले हुए हैं । वह (**सः**) जीवात्मा हंस (**सर्वान् देवान्**) सब दिव्य शक्तियों को (**उरसि**) अपने हृदय में (**उपदद्य**) लिये हुए (**विश्वा भुवनानि**) सब भुवनों, लोकों को (**संपश्यन्**) देखता हुआ (**याति**) जा रहा है ।

असंख्य युगों से सृष्टिक्रम का आरम्भ हुआ है और तभी से जीवात्मा रूपी हंस परमसुख की खोज में पंख खोले उड़ रहा है । परम सुख के अस्तित्व का आभास उसे स्वभावतः वैसे ही मिला हुआ है, जैसे कस्तूरी की गंध से मृग को अपनी उदरस्थ कस्तूरी का आभास मिल जाता है किन्तु जैसे वह भी कस्तूरी की खोज में दीवाना बनके वन-वनान्तर में दौड़ता है इसी प्रकार जीवात्मा भी परम आनन्द की खोज में पंख खोलकर बुद्धि और कर्म के सहारे दिव्यानन्द को पाने का

अथक प्रयत्न करता है।

जीवात्मा को यह ज्ञान नहीं होता कि वह स्वयं अजरत्व और अमरत्व से युक्त है। अपने देवत्व को पहचानने के लिए जो सूक्ष्म ज्ञान चाहिए वह भी अज्ञानी जीव के सामने प्रकट नहीं होता। इसीलिए वह केवल भौतिक पुरुषार्थ में अपनी शक्ति का अपव्यय कर देता है। उसकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हो जाती हैं। उसकी उड़ान का लक्ष्य केवल भौतिक भोगों का सुख प्राप्त करना रह जाता है।

तब उसके पंख प्रभावहीन हो जाते हैं। संसारी भोगों में लिपटकर वह अपनी उड़ान भी भूल जाता है। देवता बनने की चाह से ऊपर उड़ने वाला गगनविहारी हंस मनुजता से भी गिरकर धरती के पापपंक में फंस जाता है। उसका बुद्धि-कौशल ही उसके पतन और दुःख का कारण भी बनता है। उसकी प्रगति रुक जाती है, विकास अवरुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी लौकिक बुद्धि और चतुराई के अभिमान को छोड़कर अपने देवत्व को पहचाने। भगवान् ने हर मनुष्य के अन्तःकरण में दिव्यज्ञान का बीज रखा है। उस दिव्यांश का विकास करते हुए ही मनुष्य परम सात्त्विक आनन्द की अनुभूति कर सकता है जो आनन्दमय परम पुरुष के सान्निध्य में मिलता है।

वह आनन्द हंसरूपी जीव को बाह्य जगत् के आकाश में पंख खोलकर उड़ते रहने से नहीं, अपितु हृदयाकाश में समाहित होकर ही मिलेगा। वही शाश्वत आनन्द है। शाश्वत शान्ति का स्रोत है। अज्ञानी जीवात्मा हंस ही इस तथ्य को भूलकर लाखों वर्षों से अपने पुरुषार्थ रूपी पंख फैलाये स्वर्ग की ओर उड़ रहा है। किन्तु अपने लक्ष्य स्वर्ग से उसकी दूरी कम नहीं होती। यह दूरी तभी कम होगी यदि उसका पुरुषार्थ आसक्ति-

हीन होगा और आसक्तिहीन कर्म की भावना तभी पूर्ण होगी जब उसके हृदय में प्रसुप्त देवत्व जागेगा।

उस हृदयस्थ अजर अमर देवत्व को जगाना और उसकी अध्यक्षता में ही संसारी कर्तव्यों को पूरा करना जीव का परम पुरुषार्थ है। जीवात्मा हंस की सहस्रों युगों से निरन्तर होती आ रही उड़ान का लक्ष्य तभी पूरा होगा जब वह निष्काम कर्म करते हुए परम पुरुष की आज्ञा से पुरुषार्थ करेगा। तभी वह जीवन्मुक्त होने की अनुभूति पायेगा। यही मोक्ष सुख है, स्वर्ग हैं, जीवात्मा का लक्ष्य है।

३

देवता : उषाः ।

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्, अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय, आगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ।।

ऋक् : १।११३।१६ ।।

हे मनुष्यो ! (**उदीर्ध्वं**) उठो, (**नः**) हमारे लिए (**जीवः**) जीवन (**असुः**) प्राण (**आगात्**) आ गये हैं, सूर्य उदय हो गया है। (**तमः**)अन्धकार(**अप प्रागात्**)हट गया और देखो, (**ज्योतिः**) उषा की आभा (**आ एति**) चारों ओर से फैल रही है। इस आभा ने (**सूर्याय पन्थां**) सूर्य के निर्दिष्ट मार्ग को (**यातवे**) चलने के लिए (**आरैक्**) खोल दिया है (**यत्र**) इस मार्ग पर चलते हुए (**आयुः**) जीवन जहां (**प्रतिरन्ते**) विकास पाता है हम वहां (**आगन्म**) आ गये हैं।

सूर्योदय से पूर्व प्रभात-वेला में मनुष्यों को निद्रा से जगाती हुई वेद-वाणी सन्देश देती है—मनुष्यो ! उठो, आंखें खोलो, और देखो, रात्रि का अन्धकार दूर हो गया है। आकाश में उषा का राज्य है। अरुणाई फैल रही है। पूर्व दिशा के बादलों ने सुनहरी परिधान पहना है।

प्रकृति ने नया शृंगार किया है। पक्षियों ने अपने घोंसलों से निकलकर अपने मधुर कलरव से आकाश को भर दिया है।

सब ओर नये जीवन की आभा फैल रही है।

प्रकृति ने नये शृंगार से सजकर पूर्वदिशा के मस्तक पर स्वागत का तिलक सिन्दूर लगाया है। सूर्य भगवान् के सत्कार की तैयारी हो चुकी है। उठो, मनुष्यो! तुम भी ज्योतिपुंज सूर्य के स्वागत-समारोह में अपना योग दो।

अभी पलभर में सूर्य का सप्ताश्वरथ तुम्हारे जीवन में नया प्रकाश भरने के लिए आ जायेगा। परमेश्वर ने प्रकाश और प्राण देने का कार्य उसे दिया है। वह परमेश्वर की इन शक्तियों का प्रतिनिधि बनकर आ रहा है। उसके आते ही असंख्य कलियां खिलकर फूल बन जायेंगी; उसकी किरण के प्रथम स्पर्श से धरती की प्राण-वीणा नये स्वरों में बज उठेगी।

सूर्य भगवान् की यात्रा का मार्ग प्रशस्त हो गया और उसके साथ तुम्हारी जीवन-यात्रा भी विकास के नये मोड़ पर पहुँच गई है। जीवन का हर दिन एक नये लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ होता है। उठो, और आज के नवीन लक्ष्य का बोध लेकर नई उमंग से जीवन-यात्रा प्रारम्भ कर दो।

मनुष्य-जीवन एक निश्चित लक्ष्य को लेकर अपने मार्ग पर आगे बढ़ता है। किन्तु अपनी परिमित शक्तियों के कारण उसका शरीर थक जाता है; विचार-शक्ति शिथिल हो जाती है। भगवान् ने इस थकावट को दूर करने के लिए रात्रि का सृजन किया। रात के आँचल में मनुष्य विश्राम करता है। विश्रान्ति की इन घड़ियों में उसे अपनी खोई हुई शक्ति फिर मिल जाती है। हर रात उसे नया सामर्थ्य मिलता है। परमेश्वर की अपार अनुकम्पा से मनुष्य इस दिव्य वरदान का अधिकारी बना है।

मनुष्यो! भगवान् के इस वरदान को पहचानो और प्रति-

दिन प्रभात-वेला में सूर्योदय के साथ अपने अभ्युदय का मार्ग निश्चित करके दृढ़ता से अपने प्रभु-निर्दिष्ट मार्ग पर बढ़ चलो। सूर्यदेव हर दिन परमेश्वर का यही संदेश लेकर तुम्हारे द्वार पर आते हैं। उसे सुनो, और परमानन्द-प्राप्ति के लक्ष्य को पाने के लिए आगे बढ़ो। ईश्वर का आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।

४

देवता : पवमानः सोमः ।

परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः ।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ॥

साम पूर्वार्चिक : ५।५।१० ॥

(**सिन्धोः**) समुद्र की (**ऊर्मौ**) लहरों पर (**अधिश्रितः**) सवार होकर (**कविः**) आनन्दमय प्रभु (**पुरुस्पृहम्**) विश्वभर के प्रेम की (**कारुं**) वंशी (**बिभ्रत्**) उठाये हुए (**परि प्रासिष्यदत्**) चारों ओर स्वरतरंगों में छा गया।

परम प्रभु आनन्दमय है। अपने आनन्द से ही वह सृष्टि रचता है। जगत् में जो कुछ आनन्दप्रद है वह प्रभु का ही अंश हैं। आनन्ददायी सृष्टि करने वाले को ही कवि कहते हैं। प्रभु सबसे बड़ा कवि है। सम्पूर्ण जगत् उसका काव्य है।

जगत् के सब विधिविधान उसी प्रकार लय-ताल और स्वर के सूत्र में बंधे हुए हैं जैसे कविता होती है। प्रभु स्वयं अनन्त हैं, उसके स्वर-लय-ताल भी अनन्त हैं। उसकी अनन्त स्वर-तरंगें सम्पूर्ण पृथ्वी पर ही नहीं, अनन्त अन्तरिक्ष में भी व्याप्त हैं।

नदियों की मधुर कलकल ध्वनि में भी प्रभु की स्वर-माधुरी व्याप्त है और महासिन्धु के गहन-गम्भीर उद्घोष में भी उसी नादब्रह्म के स्वर गूंजते हैं।

जगत् के कलहपूर्ण कोलाहल में ही जिनका मन डूबा रहता है वे इस नादस्वर को नहीं सुन पाते। संसारी भोग-विलास की मृगतृष्णा में ही भटकने वाले भी प्रभु की इस स्वर-लहरी का आनन्द नहीं ले पाते। किन्तु जो व्यक्ति विषय-भोग से मन को हटा लेते हैं और प्रभु-प्रेम में मगन रहने का अभ्यास कर लेते हैं उन्हें अपने चारों ओर संगीत की स्वर-लहरी सुनाई देती है।

जो मन शान्त हो जाता है वही सर्वत्र व्याप्त नादस्वर को प्रतिध्वनित करता है। अन्तर्मन की वीणा जब प्रभुप्रेम का आशीर्वाद पा लेती है तब उसकी तारें अनन्त में व्याप्त स्वर-तरंगों से स्वयं झनझना उठती हैं। तब उन्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि सागर के वक्षःस्थल से उठता हुआ उद्घोष विशाल व्योम के ओर-छोर में व्याप्त हो रहा है।

उन स्वरों में प्रभु-प्रेम की पुकार है। जो उसे सुनते हैं वे प्रेम विभोर होकर समस्त विश्व को प्रेम, करुणा, दया और सहानुभूति का प्रकाश देकर नया जीवन देते हैं। प्रभु-प्रेम की इस वंशी के स्वरों में ऐसा आध्यात्मिक उन्माद होता है कि जो इस स्वर गंगा में एक बार नहा लेता है उसे संसार का कोई अन्य स्वर अपने जाल में नहीं बांध सकता। वह बन्धन-मुक्त हो जाता है। इन स्वर-सूत्रों में बंधकर वह प्रभु का साक्षात्कार कर लेता है।

५

देवता : भगः ।

उतेदानीं भगवन्तः स्याम, उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्लाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ।।

यजु० : ३४।३७ ।।

(**मघवन्**) हे परमप्रभो ! (**वयम् इदानीं**) हम अब, (**भगवन्तः स्याम**) भगवान् में एकाग्र हों (**उत**) और (**प्रपित्वे**) सायंकाल के समय (**उत अह्लां मध्ये**) और मध्याह्नकाल में (**उत सूर्यस्य उदितौ**) तथा सूर्योदयकाल में (**भगवन्तः स्याम**) ऐश्वर्यशाली हों। (**वयं देवानां सुमतौ स्याम,**) हम तेरे दिव्य रूपों की उत्कृष्ट भावना बनाये रहें—सब देवशक्तियां हमारे अनुकूल रहें।

हम प्रायः हर समय अपनी चिन्ताओं या अपने स्वार्थपरक कार्यों में ही व्यग्र रहते हैं। इसीलिए व्यग्रता या उद्विग्नता हमारे जीवन का अंग बन जाती है। किसी भी क्षण हम इस दुर्भाग्यपूर्ण मनःस्थिति से मुक्ति नहीं पाते। हर समय का मानसिक तनाव हमारे जीवन का शोषण करता रहता है। ऐसे तनाव में रहते हुए हम जीवन के लक्ष्य—आनन्द प्राप्ति—तक कभी नहीं पहुंच सकते—दुःखों के कंटकाकीर्ण मार्ग में क्षत—विक्षत होते-होते एक दिन अकस्मात् जीवन का अन्त हो

जाता है।

इस मानसिक व्यग्रता से बचनें का एक ही उपाय है कि हम अपना ध्यान भगवान् में लगायें। हम सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ परमसत्ता को हृदय से स्वीकार करके सदैव उसके न्याय पर विश्वास रखें और उसके निर्णय को ही अपना भाग्य मानकर अपने कर्तव्य कर्म करें तो हमारे मानसिक तनाव का अन्त हो सकता है।

कुछ क्षण के लिए परमसत्ता की उपासना या श्रद्धाभाव से उसकी वन्दना करने मात्र से हमारे मन में स्थायी शान्ति नहीं आयेगी। सूर्योदय का समय हो या सूर्यास्त का समय, मध्याह्न हो या अर्धरात्रि, प्रत्येक समय परम प्रभु की अनन्त दया पर अडिग विश्वास रखने से ही मन में उस अविचलित शान्ति की प्राप्ति होगी जिससे हृदय में आनन्द का अटूट राज्य स्थापित होगा।

और अन्तर्मन की ऐसी स्थिति में हमें सर्वत्र अनुकूलता का आभास होगा। पृथ्वी, नभ के सब देवता, ग्रह—नक्षत्र हमारे लिए मंगलमय हो जायेंगे। इन अतुल—बलशाली दिव्यशक्तियों से हमें अभय का वरदान मिल जायेगा।

अन्तर्मन में सहज तृप्ति और अखण्ड शान्ति होनें से ही बाह्य जगत् के सभी प्राणियों या दिव्य शक्तियों के प्रति मित्र-भाव का उदय होता है। मन में तनाव और भय-संशय हों तो सभी से भय लगता है। इस मन:स्थिति को पानें का एक ही उपाय है परमप्रभु में अखण्ड श्रद्धा। प्रत्येक क्षण प्रभु चरणों में समर्पण। प्रभु-समर्पित मन सदा प्रशान्त रहता है। ऐसे अविचलित, प्रशान्त मन के मानसरोवर में ही प्रभु का आलोक प्रतिबिम्बित होता है। ऐसे आलोक में ही प्रभु का साक्षात्कार सम्भव है।

✓

६

देवता : इन्द्रः ।

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥

ऋक् : ८।१६।११ ॥

(**स इन्द्रः पप्रिः**) वह पूर्ण समर्थ परमात्मा (**पुरुहूतः**) सबका उपास्य देव (**नावा**) अपनी नाव-अपनी शरण द्वारा (**नः**) हमें (**स्वस्ति**) कुशलतापूर्वक (**विश्वा द्विषः**) सब प्रकार के द्वेष भरे समुद्र का (**अति पारयाति**) अतिक्रमण कर पार लगाता है।

यह संसार एक अथाह सागर है। इसमें लहरें भी उठती हैं, ज्वारभाटे भी आते हैं। न इनका आर-पार दिखलाई देता है और न गहराई मापी जाती है। इसमें रहने वाले प्राणी भी असंख्य हैं और सभी प्राणी भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं। सबके अपने स्वार्थ हैं। स्वार्थ-साधन के लिए सब हिंसक बन जाते हैं। उनके स्वार्थों की भी कोई सीमा नहीं। सब अपना विस्तार चाहते हैं। अपनी शक्ति का प्रयोग करके दूसरों को अपने वश में रखने की इच्छा रखते हैं।

अपनी बुद्धि के प्रयोग से मनुष्य ने अपनी आकांक्षाओं का विस्तार इतना कर लिया है कि वह इस सागर के विशाल वक्ष पर अपना ही साम्राज्य चाहता है। मनुष्य अपनी शक्ति

में वृद्धि करके अधिकाधिक क्षेत्र पर अधिकार करना चाहता है।

ऐसे संघर्षशील संसार में आते ही प्रत्येक व्यक्ति असंख्य ईर्ष्या द्वेष भरे समुदायों से घिर जाता है। जीवन के हर कदम पर उसे अपनी प्राणरक्षा के लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है। चारों ओर वह भय का वातावरण देखता है। प्रत्येक कदम पर उसे नये भय का सामना करना होता है।

केवल अपने बुद्धिबल से वह इस अतिशय विषम मार्ग में अपने कदम आगे नहीं बढ़ा सकता। उसे किसी ऐसे सहायक की आवश्यकता होती है जो उसका सच्चा हितैषी हो। संसार के साथी केवल स्वार्थ सिद्धि तक ही सहायक बनते हैं। जीवन-यात्रा में हर कदम पर पुराने साथियों का साथ छूटता जाता है। और सब अपने अपने संकटों में ऐसे घिरे होते हैं कि दूसरे को सहारा देने का विचार भी मन में नहीं ला सकते।

तब मनुष्य केवल प्रभु की शरण में जाकर आश्वासन पाने का उपाय करता है। इस अनन्त सृष्टि का ज्ञान अनन्त ज्ञानमय प्रभु के अतिरिक्त और किसी को नहीं है। उसने ही इस अथाह सागर की रचना की और वही इस सागर से पार करने की क्षमता रखता है। अपने अहंकार को छोड़कर प्रत्येक मनुष्य उस नाव का सहारा ले सकता है।

उसकी नाव पर बैठते ही संसारी द्वेषों से मुक्ति मिल जाती है। मन द्वेषरहित हो जाता है, और द्वेषरहित होने पर चारों ओर से अभय का वरदान प्राप्त होता है। मन में सबके लिए मंगल भावना भर जाती है। जिससे दूसरों का मन भी ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होकर शिवसंकल्पमय बन जाता है। स्वस्ति-भावना की वह नाव ही मनुष्य को इस संघर्षशील सागर के पार उतारकर उस अमृतलोक में पहुंचाती है, जहां न कोई कामना है न द्वेष है; केवल प्रेम-ही-प्रेम है।

७

देवता : सोमः ।

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा ।
मर्य इव स्व ओक्ये ।।

ऋक् : १।९१।१३ ।।

हे सोम ! (**गावो न यवसेषु**) जैसे जौ के खेतों में गायें विचरण करती हैं और (**मर्यः स्व ओक्ये**) जैसे मनुष्य अपने घर में, (**इव**) वैसे ही तुम (**नः हृदि आ रारन्धि**) हमारे हृदय में आकर रमण करो ।

हे सुख शान्ति के स्रोत प्रभो ! आपकी वन्दना करते युग बीत गये । न आपका अन्त पाया और न आपकी महिमा का अन्त मिला है । आपकी ही सन्तान होते हुए भी हम आप से दूर हैं । यह दूरी कम नहीं हो पाई ।

अब हमने अपनी खोज बन्द कर दी । आपके चरणों में पत्र पुष्प, नैवेद्य अर्पित करने का अनुष्ठान त्याग दिया । इन औपचारिक व्यवहारों से आपकी दूरी और भी बढ़ गई । अब तो यही प्रार्थना है कि आप स्वयं हमारे हृदय-मन्दिर के देवता बनकर हमारे अन्तःकरण में निवास करो । जिससे हमें आपकी समीपता पाने के लिए दुर्गम मार्गों से न जाना पड़े । तप त्याग के टेढ़े-मेढ़े रास्तों की शरण न लेनी पड़े ।

अब हम आपके द्वार पर नहीं आयेंगे। आप ही हमारे हृदय-मन्दिर के स्वामी बनकर प्रतिक्षण हमारे साथ रहेंगे। पत्रपुष्प की भेंट न चढ़ाकर हम अपने सभी कर्म आपको भेंट कर देंगे।

हमारे कर्ममय जीवन की सार्थकता अब केवल आपको प्रसन्न करना है। हमारी इस जीवन-खेती के स्वामी आप बनें, आपको भोग लगाना ही हमारे कर्मों का लक्ष्य होगा।

हमारा हृदय आपका घर होगा। आप इसमें कुछ क्षण के मेहमान बनकर नहीं बल्कि घर के मालिक बनकर रहें। इसे अपना ही घर मानकर इसका पूर्ण स्वामित्व ग्रहण करें। हम जान गये हैं कि इसके सच्चे मालिक आप ही हैं। इसमें जो कुछ प्रकाशमय है, ज्ञानमय है या आनन्दमय है वह आपका ही अंश है। और जो विवेकशून्य है अल्प है, वह हमारी अपूर्णता के कारण है।

हे प्रभो! हम केवल आपके हाथ के खिलौने हैं, या आपकी अनन्त वैभवमयी वाटिका के माली हैं। हमारा कर्तव्य इसे यथाशक्ति स्वच्छ रखना है, यही हमारा दायित्व है। और हमारे भाग्य में आपने जो रख दिया उसे सधन्यवाद स्वीकार करना है। आपसे ही इस मिट्टी के घर में प्रकाश है— ज्ञान है और विवेक है।

८

देवता : इन्द्रः ।

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ।।

ऋक् : १।७।७ ।।

(**वज्रिणः इन्द्रस्य**) वज्रधारी शक्तिमान् प्रभु की (**तुञ्जे तुञ्जे ये उत्तरे स्तोमाः**) प्रतिक्षण दानशीलता का मैं स्तवन करता ही जाता हूं। किन्तु (**अस्य सु स्तुतिं न विन्धे**) उसकी दानशीलता का अन्त नहीं पाता। मेरा स्तवन पूजन उसकी महिमा का वर्णन नहीं कर पाता।

परमेश्वर का हृदय कभी वज्र सा कठोर है तो कभी कमल-पत्र की तरह कोमल। न्यायकारी होने से उसे पापी को कठोर दण्ड देना पड़ता है। दुष्टों का दमन करने के लिए वह वज्र भी धारण करता है। किन्तु विनम्र और परोपकार रत व्यक्ति के लिए उसका अक्षय भंडार खुल जाता है। अपने अनन्त कोष से वह प्रतिक्षण दान करता रहता है।

विश्व ब्रह्माण्ड का समस्त वैभव मनुष्यों को दान रूप में ही प्राप्त है। सूर्य की प्राणदायिनी किरणें, चन्द्रमा का शीतल प्रकाश, वायु द्वारा प्रदत्त श्वासोच्छ्वास, पृथ्वी के अन्न-भंडार—सभी कुछ परमेश्वर के दान से ही प्राप्त होता है।

एक बार देकर ही वह दानी शान्त नहीं हो जाता। वह प्रतिक्षण देता है और बिना मांगे ही देता है। उसके द्वार पर भिक्षा मांगने नहीं जाना पड़ता। उसकी दान-प्रणाली बड़ी उदार है। उसका दान पाकर भी मनुष्य अपने को भिक्षुक अनुभव नहीं करता है। वह यही समझता है कि उसने अपने पुरुषार्थ से ऐश्वर्य अर्जित किया है। गौरवान्वित अनुभव करने का यह स्वभाव भी मनुष्य को भगवान् से दान रूप में ही मिला है।

परमेश्वर की इस दानशीलता को पहचानकर जो व्यक्ति नतमस्तक हो जाते हैं, उन्हें भगवान् अपने दिव्य आनन्द का भागी बना लेता है। ऐसे कृतज्ञ भक्तों का मन परमेश्वर के प्रेम से सदैव अनन्त आनन्द में लीन रहता है।

प्रभु-प्रेम से विभोर होकर जो भक्त प्रभु की स्तुति में मगन हो जाते हैं उनका हृदय प्रेम का सागर बन जाता है। उनकी हृदयवीणा से प्रभुभक्ति के स्वर स्वयं प्रवाहित होने लगते हैं। उनकी वाणी में माधुर्य भर जाता है। उनके कण्ठ से स्तुति, गीतों का झरना बहता रहता है।

किन्तु मनुष्य के असंख्य स्तुति गीत भी परमेश्वर की करुणा का पार नहीं पाते। अनादि काल से ऋषि-मुनि अपनी दिव्यवाणी से प्रभु का स्तवन करते आये हैं लेकिन अनन्त शब्द-भंडार भी प्रभु की महिमा का वर्णन नहीं कर पाये।

६

देवता : इन्द्रः ।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥

यजु० : ३।५० ॥

(**स्वाहा मे देहि**) स्वस्थ भावना से जो तुम मुझे देते हो— अथवा [अह] (**ते ददामि**) मैं तुझे देता हूँ वह (**निधेहि**) ग्रहण करने योग्य है। (**ते [अहं] निदधे, [त्वं] निहारं हरासि**) तेरी वस्तु मैं लेता हूं, तू मेरी वस्तु स्वीकार कर (**ते निहारम् निहराणि**) तेरे साथ यह आदान-प्रदान सदा सत्य मन-वचन कर्म से होता रहे।

आदान-प्रदान से ही संसार अवस्थित है। ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को उसके विशेष कार्य के लिए संसार में भेजा है। अतः ईश्वर और सृष्टि में सभी व्यक्ति उपयोगी हैं। सब एक ही स्तर पर ईश्वर को प्रिय हैं। सब की कार्य-क्षमता और कुशलता एक समान नहीं होती इसलिए सबका एकरस होना और भी आवश्यक है। अपने विशेष गुणों का विकास करके सब समाज के उन गुणों की क्षतिपूर्ति करते हैं। एक दूसरे के पूरक बनते हुए सब समष्टि के विकास में सहायक होते हैं।

अतः न तो केवल देते रहना न्यायोचित है और न केवल

लेते रहना। लेने का अधिकार हमें तभी मिलता है यदि वह कुछ देने की योग्यता रखता हो। किन्तु देने की योग्यता उत्पन्न करने के लिए श्रम करना पड़ता है। संग्रह किये बिना दान देना असंभव है।

यह लक्ष्य सभी क्षेत्रों में चरितार्थ होता है। ज्ञान का दान करने के पहले ज्ञान संग्रह करना अनिवार्य है, जैसे धनदान करने के लिए धन संग्रह आवश्यक है। धन के प्रतिफल में ज्ञान और ज्ञान के विनिमय में धन देना इसी आदान-प्रदान का अंग है।

यह लेन-देन बराबरी के स्तर पर एक दूसरे के सन्मान की रक्षा करते हुए तथा न्याय पूर्ण होना चाहिए। इसमें शोषणवृत्ति उचित नहीं। दूसरे की विवशता का लाभ उठाकर अल्प वस्तु देते हुए अधिक पाने का लोभ करना अधार्मिक और अमानवीय है।

आज के अर्थ प्रधान युग में धन को ही अधिकतम मूल्यवान् समझकर जो श्रम और ज्ञान को सस्ता मान लेते हैं। वे अन्याय करते हैं। दूसरे की मेहनत को कम और अपने धन को सर्वाधिक कीमती वस्तु समझने से श्रमिकों में असन्तोष होगा। इस अन्याय का प्रतिवाद करने के लिए वे अपने श्रम का लाभ समाज को नहीं देंगे।

इसी प्रकार ज्ञान-दान भी कम महत्व का नहीं है। ज्ञान ही मनुष्य को बनाता है, चरित्र का निर्माण करता है और सभी मानवोचित गुणों की पृष्ठभूमि बनाता है।

देवता : मृत्युः ।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

ऋक् : १०।१८।२ ॥

हे मनुष्यो ! (**यदा**) जब तुम (**मृत्योः पदं**) मृत्यु के पैर को (**योपयन्तः**) ढकेलते हुए (**एत**) चलोगे, तो (**द्राघीय आयुः**) दीर्घ आयु (**प्रतरं दधानाः**) विस्तृत रूप धारण करते हुए तथा (**प्रजया धनेन आप्यायमानाः**) सन्तान एवं धन से भरपूर बनोगे। किन्तु इसके लिए (**शुद्धाः पूता**) बाहर अन्दर से शुद्ध पवित्र और (**यज्ञियासः**) संयमित संस्कारी (**भवत**) बनो।

हे मनुष्यो ! भगवान् की कृपा से तुमने मनुष्य-देह के साथ जन्म पाया है। जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है। जिस देह का चोला तुम्हारी आत्मा को मिला है, वह एक दिन अवश्य छूटेगा। इस देह से तुम्हारी आत्मा का विछोह अवश्य होगा।

भविष्य में आनेवाले इस वियोग को अभी से भय का कारण न बना लो। तब वह वियोग इतना दुःख नहीं देगा, जितना उसका भय तुम्हें उम्रभर देता रहेगा। मृत्यु से मत डरो। मन में उसके भय की जो छाया पड़ी है, उसे दूर कर दो।

मृत्यु का जो कांटा सा जिन्दगी में हर वक्त चुभता रहता है, उसे उखाड़ फेंको। निर्भय होकर जीवन की उस राह पर चलो, जो कल्याणकारी है।

उस रास्ते पर वही चल पाते हैं, जो मृत्यु के भय से छूट जाते हैं। जो डरते हैं वही मरते हैं। बहुत लोग ऐसे हैं जो, 'जीवन थोड़े दिन का है' मानकर या तो छोटी आयु से ही ऐसे भोग भोगने के लिए उतावले हो उठते हैं, जिनके लिए उनका शरीर समर्थ नहीं होता। अथवा इतने उदास हो जाते हैं कि किसी काम को शुरू करने की इच्छा ही नहीं करते। उनका यह निकम्मापन उन्हें आलसी बना देता है। उनमें जीने का कोई उत्साह नहीं रहता।

जो मनुष्य दीर्घ आयु की आशा रखते हुए धैर्यपूर्वक जीवन की मंज़िलें तय करते हैं और अपनी भावनाओं और कामनाओं पर संयम रखते हुए शान्त भाव से सहज मिले भोगों को भोगते हैं, उन्हें धन भी प्राप्त होता है और उनका पारिवारिक जीवन भी सुख-समृद्धि से भरा रहता है। उन्हें तीव्र निराशा का मुख नहीं देखना पड़ता।

ऐसे धैर्यशील धार्मिक वृत्ति के मनुष्य ही संस्कारी होते हैं। वही सच्चे यज्ञीय होते हैं। यज्ञभावना से जीवन का निर्वाह करते हैं। उनके सब काम उसी प्रकार व्यवस्थित होते हैं जिस प्रकार यज्ञ करनेवाले याज्ञिकों को जब कल्याणपरक कार्य को व्यवस्थित रूप से किया जाता है, तभी उसे यज्ञ कहा जाता है।

यज्ञमय जीवन बिताने का लक्ष्य तभी पूरा होता है यदि मनुष्य शरीर से स्वस्थ और अन्तःकरण से पवित्र हो। दीर्घ आयु की इच्छा रखनेवाले को शरीर की स्वस्थता का भी ध्यान उसी प्रकार रखना होगा, जिस प्रकार मन की पवित्रता का। ये दोनों पराश्रयी हैं। रोगग्रस्त आदमी का मन स्वस्थ

नहीं रहता और कमज़ोर मन, चंचल, भयातुर, शंकाशील एवं असन्तुलित मस्तिष्क वाले व्यक्ति का शरीर भी स्वस्थ नहीं रह सकता।

पूर्णतः सफल, समृद्ध जीवन की आकांक्षा है तो आवश्यक है कि मनुष्य सबसे पहले मृत्यु का भय दूर करे। साथ ही अपने सामाजिक दायित्व को निभाते हुए शुद्ध आचरण एवं संतुलित मन-मस्तिष्क से अपने चरित्र को दृढ़ बनाये।

११

देवता : इन्द्रः ।

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः ।
यदिन्नु इन्द्रं वृषणं सचासुते सखायं कृणवामहै ॥

ऋक् : ८।६१।११ ॥

हम (**न पापासः, न आरायासः, न जल्हवः, मनामहे**) न तो पापी होकर, न कृपण होकर, (**इन्द्रं**) भगवान् को प्रसन्न कर सकते हैं। (**यत् इत् नु**) वस्तुतः हम (**सुते सचा**) यज्ञमय कर्मों में सम्मिलित होकर ही (**वृषणं इन्द्रं सखायं कृणवामहै**) सुख-वर्षक परमेश्वर को अपना सखा, अपना स्नेही बना सकते हैं।

सत्य स्वरूप भगवान् के द्वार पर मन, वचन, कर्म से सत्य-निष्ठ होकर ही हम पहुंच सकते हैं। भगवान् अन्तर्यामी हैं। मनोगत भावना को भी जान लेते हैं। उनसे छल-कपट नहीं चल सकता। दुनिया को बनावटी बातों से ठगने वाले भगवान् को भी झूठी भक्ति से ठगने का प्रपंच रचते हैं। किन्तु सफल नहीं होते।

भगवान् परम उदार हैं। दानशीलता प्रभु का स्वभाव है। उनकी प्रभुता प्रतिक्षण अपने अनन्त अक्षय कोष से अनन्त वैभव देने में ही है। स्वयं निराकार, अरूप, गुणातीत रहकर वह अपनी सृष्टि को सहस्र रूपों में सजाते हैं। सूर्य-चन्द्र-द्यावा-

पृथ्वी आदि सब देवशक्तियों के माध्यम से प्राणिजगत् को मुक्तहस्त देते रहते हैं।

अपने भक्तों में भी प्रभु इसी महादान का प्रतिविम्ब देखना चाहते हैं। छल-बल से दूसरों का शोषण करने के बाद जगत् के वैभव को अपनी तिजोरी में कैद रखने वाले कृपण साहूकारों का हृदय कभी प्रभु के निर्मल आनन्द से प्रकाशित नहीं होता।

आलसी, अकर्मण्य एवं उत्साह-हीन व्यक्ति भी प्रभु का प्यार नहीं पाते। प्रभु ने स्वभाव से ही मनुष्य को कर्मशील बनाया है। कर्म बिना जीवन यात्रा पूरी नहीं होती। जो श्रम नहीं करता, श्रान्त नहीं होता उसे थककर सोने का सुख भी नहीं मिलता। उद्योगशील व्यक्ति ही शिखर पर पहुंचते हैं।

अतः प्रभु का प्रेम पाने के लिए सत्याचरण, उदारता और परिश्रमी होना अनिवार्य है। किन्तु इतने से ही प्रभु प्रसन्न नहीं होते। इन सद्गुणों के साथ यज्ञभावना भी आवश्यक है। समस्त विश्व के साथ अनुकूलता बनाकर सबकी उन्नति के लिए संगठित प्रयत्न करना भी प्रभु प्रेम पाने के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना अपने व्यक्तिगत गुणों का विकास करना।

एकान्त साधना से मन को सशक्त बनाकर मुक्तिकामी व्यक्ति से प्रभु इतना प्रसन्न नहीं होते जितना अपने स्वार्थों का सर्वथा परित्याग करके दूसरों के कष्टों को दूर करने वाले सेवाव्रती कर्मयोगी पुण्यात्मा से। प्रभु का प्यार पाना हो तो मानव को प्यार करो यही वेद का आदेश है।

१२

देवता : निर्ऋतिः ।

**नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजो अयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥**

अथर्व : ६।६३।२॥

(**निर्ऋते ! तिग्मतेजो**) हे विपत्तियो, तीखे प्रहार करने वाले बाणो ! (**ते नमः अस्तु**) तुम्हें मेरा नमस्कार है। तुम (**अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत**) मुझे जकड़कर रखने वाली जंजीरों को काट देते हो। (**यमः पुनः इत् मह्यं त्वा ददाति**) नियमन करने वाले प्रभु ने ही मेरे कल्याण के लिए तुम्हें मेरे पास भेजा है। (**तस्मै मृत्यवे यमाय नमो अस्तु**) मृत्यु रूप में आई परमेश्वर की यमशक्ति को मेरा शतशः नमस्कार है।

विपत्तियों का स्वागत करने वाले पुरुषार्थी ही सम्पत्ति के स्वामी बनते हैं। और मृत्यु का अभिनन्दन करके साहसी कर्मठ वीर पुरुष ही मृत्युञ्जयी बनकर अमरपद प्राप्त करते हैं। विघ्न बाधाओं से डरनेवाले किसी महान् कार्य को प्रारम्भ ही नहीं कर पाते अथवा प्रारम्भ करके भी बीच में ही छोड़ देते हैं। वे केवल सुख सुविधा के मार्ग को चुनते हैं।

उन्नति की दुरूह राहों पर कांटों का जाल बिछा होता है। कांटों से डरकर लौट जाने वाले कभी अपने लक्ष्य तक नहीं

पहुंच पाते। कल्याण का प्रत्येक मार्ग तीखे कांटों से भरा होता है। इस मार्ग पर त्याग-तपस्या से तपे साहसी व्रतशील व्यक्ति ही चल पाते हैं। इस राह के राही को सांसारिक सुखों का त्याग करना ही पड़ता है। उसे संसारी मानापमान की उपेक्षा करनी पड़ती है। दूसरे के दुःखों को अपना दुःख मानकर झेलना पड़ता है। अपने सभी प्रकार के भोगविलासों को तिलांजलि देन पड़ती है।

तपोमय जीवन की यह प्रखर धार तपस्वी के मोह-माया-जाल को काटकर उसे सभी प्रकार के असत्य व्यवहारों से मुक्त कर देती है। निरीह, निर्लोभ, निर्भय, निष्काम व्यक्ति के लिए ही मोक्ष का द्वार खुलता है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। वह हृदय से मृत्यु का, यम का अभिनन्दन करता है। क्योंकि यम ही मनुष्य को देह के पिंजरे से मुक्त करके शेष कर्मों के भोग के निमित्त नया जीवन देने की भूमिका बनाता है।

हमें यम का उपकार मानना चाहिए कि वह जराजीर्ण देह के बन्धन से आत्मा को मुक्त करता है। जिस आत्मा के कर्मयोग समाप्तप्रायः हों, और जो सर्वथा प्रभु-अर्पित जीवन की राह पर चलकर भोगमय जीवन को निःशेष कर चुका हो, उसे अमृतधाम पहुंचाने का कार्य यम ही करता है। ऐसे जीवनमुक्त देवपुरुष के लिए मृत्यु का सोत्साह स्वागत करना ही स्वाभाविक है।

१३

देवता : इन्द्रः ।

**विशंविशं मघवा पर्यशायत, जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति, स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥**

ऋक् : १०।४३।६ ॥

(**मघवा विशं विशं पर्यशायत**) परमेश्वर प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में प्रसुप्तभाव से विद्यमान है। वह (**वृषा जनानां धेना अवचाकशत्**) सर्वव्यापी सभी प्राणियों की ज्ञान-क्रियाओं को दीप्त करता है। (**अह**) किन्तु (**शक्रः यस्य सवनेषु रण्यतिः**) सर्वसमर्थ प्रभु जिसकी नस नस में बसा रहता है (**स तीव्रैः सोमैः**) वह अपनी प्रबल अध्यात्म शक्ति के कारण (**पृतन्यतः सहते**) कष्टों के तीव्र प्रहारों को सह लेता है शान्ति और धीरज से सह लेता है और उन पर विजय पा लेता है।

अन्तर्यामी ईश्वर प्रत्येक हृदय में निवास करता है। उसकी शक्ति से ही हमारी इन्द्रियां अपने कार्य करती हैं। आंखें उस परमात्म शक्ति से युक्त होकर ही देख पाती हैं, कानों में श्रवणशक्ति का स्रोत भी वही है। मन भी उससे युक्त होकर ही मनन करता है।

सब शक्तियों का स्रोत वही है। किन्तु मनुष्य का अज्ञान भरा अहंकार अपने को ही शक्ति-केन्द्र मान लेता है। जिससे

वह अनन्त शक्तिमान् प्रभु के प्रकाश से वंचित हो जाता है। मनुष्य का यह अहंकार उसे अल्प बना देता है। परिणाम यह होता है कि प्रभुशक्ति का वर्चस्व अहंकारी व्यक्ति में पूरी तरह प्रस्फुटित नहीं हो पाता।

जो ज्ञानी अपनी ज्ञानधारा को प्रभु के ज्ञानस्रोत से सम्बद्ध रखता है, प्रभुप्रेरित कार्यों में निष्काम भाव से युक्त रहता है उसे कभी नैराश्य या पराजय का मुख नहीं देखना पड़ता। उसका उत्साह कभी क्षीण नहीं होता; शक्तियां कुंठित नहीं होतीं। कर्तव्यपूर्ति के सीधे-सरल मार्ग पर उसके क़दम निरन्तर आगे बढ़ते जाते हैं। उसकी गति में अखण्ड वेग स्थिर रहता है। ऐसे प्रभु-विश्वासी व्यक्ति सुख-दुःख की चिन्ता किये बिना सदा अग्रगामी रहते हैं। वे सौभाग्यशाली हैं।

किन्तु उनसे भी अधिक सौभाग्यशाली वे हैं जिनकी नस नस में प्रभु-प्रेम बस गया है। प्रभु-प्रेम के उन्माद में वे सांसारिक दुःखों को सदा भूले रहते हैं। संसार के अत्यन्त पैने दुःखों को भी वे बड़े सुख से झेल लेते हैं। उनके हृदय में ईश्वर-प्रेम का नशा इतना गहरा होता है कि संसारी कष्टों की चुभन का उन्हें अनुभव नहीं होता।

ईश्वर उनके हृदय में इतना तीव्र आध्यात्मिक आनन्द भर देता है कि अपने ईश्वर से भिन्न अस्तित्व को भूलकर वे प्रभु के आनन्दमय रूप में विलीन हो जाते हैं। आनन्द के महासिन्धु में डूबकर वे संसारी ताप-संताप के स्पर्श से भी दूर रहते हैं। जैसे गंगा की शीतल धारा में बैठे मनुष्य को मध्याह्न के सूर्य की प्रचण्ड किरणें भी संतप्त नहीं कर पातीं।

१४

देवता : वरुणः ।

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभि ख्यम्॥

ऋक् : ७।८६।२॥

(**उत तत् स्वया तन्वा संवदे**) और मैं वरुण भगवान् के विषय में अपने ही आप से वार्तालाप करने लगता हूँ कि (**कदा नु वरुणे अन्तः भुवानि**) कब मैं वरुण भगवान् के अत्यंत समीप हो जाऊंगा—इतने दिव्यगुणों से संपन्न हो जाऊंगा कि तद्रूप अनुभूति होगी। और (**किम् मे हव्यम् अहृणानो जुषेत**) क्या वह प्रभु प्रसन्न होकर मेरी हवि को, पूजा को स्वीकार करेगा और (**कदा सुमनाः मृलीकं अभि ख्यम्**) कब मैं निःशंक मन से उस आनन्दमय प्रभु की साक्षात् अनुभूति कर सकूँगा।

आनन्दमय प्रभु के अनन्त वैभव और अनन्त प्रेम का अनुभव करने के बाद प्रभु-भक्त साधक के मन में उस दिव्य अनुभव को स्थिर रखने की व्याकुलता आ जाती है। बहुत अभ्यास करने पर भी वह उस दिव्य चमत्कारी क्षण को निरन्तर स्थायी रखने में सफल नहीं हो पाता। मन की स्वाभाविक चंचलता उसे संसारी कार्यकलाप में बारबार घसीट लाती है।

किन्तु प्रभु की समीपता के आनन्दमय क्षणों की याद उसे

फिर उन्हीं क्षणों में निवास करने को अधीर बना देती है। तब वह अपने ही अन्तःकरण से संवाद करने लगता है। उसे वहीं अपने इष्टदेव की छवि का आभास मिलता है। व्याकुल होकर वह अपने अन्तर्यामी से पूछने लगता है—कब फिर उस आनन्दमय प्रभु से साक्षात्कार होगा। कब वह दिव्य आनन्द की अनुभूति करेगा।

प्रेम की तीव्रता में मनुष्य प्रेमी के स्वरूप में ही अपना रूप देखता है। अपने अलग अस्तित्व को भूल कर वह प्रेमपात्र के तन-मन में अपने तनमन को खो देता है। जिस रूप में प्रभु का स्मरण करता है वह स्वयं तद्रूप हो जाता है।

प्रभु में ही विलीन होने की उसकी आकांक्षा तीव्र होती जाती है। किन्तु वह अपने को इस योग्य नहीं पाता कि प्रभु-चरणों में समर्पित हो सके। इस ऊहापोह में उसके सामने पुनः दो प्रश्न उठते हैं— क्या प्रभु उसका हव्य स्वीकार कर लेंगे ? कब प्रभु के दर्शन करूंगा ?

उसका संशयालु मन एक तो भूल जाता है कि निश्छल प्रेम से समर्पित भेंट का प्रभु कभी तिरस्कार नहीं करते। और दूसरे यह कि प्रभु-दर्शन की सच्ची इच्छा होते ही प्रभु के दर्शन हो जाते हैं। प्रभु जाति, वर्ण, वर्ग आदि भेद को भूलकर सबको दर्शन देते हैं। अन्य सब की चिन्ता छोड़कर प्रभु का स्मरण करने वाले को प्रभु कभी साक्षात्कार के पुरस्कार से वंचित नहीं रखते।

१५

देवता : सोमः ।

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं, वर्धयामो वचोविदः ।
सुमृलीको न आ विश ॥

ऋक् : १।९१।११ ॥

हे सोम ! (**वयं वचोविदः गीर्भिः त्वा वर्धयामः**) हम सरस्वती के उपासक अपनी वाणी से यशोगान करते हुए तेरी महिमा का विस्तार करते हैं। हे सोम ! तुम (**सुमृलीकः न आविश**) आनन्दमय हो, आनन्द रूप में हमारे तन-मन में समा जाओ।

मनोगत भावों को व्यक्त करने में सक्षम वाणी का वरदान प्रभु की अनन्त कृपा से और पुण्यकर्मों के फल से ही प्राप्त होता है। ऐसी प्रभावोत्पादक वाणी की सार्थकता प्रभु के गान को प्रसारित करने, प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने में ही है। रहस्यमय विश्व का ज्ञान अनन्त है। तपस्या पूर्वक साधना से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस ज्ञान की समृद्धि को अपने अन्तःकरण तक ही सीमित न रखकर जिज्ञासुओं को देने का कार्य वाणी ही कर सकती है।

जिन्हें प्रभु-कृपा से मधुर एवं प्रभावकारी वाणी मिली है उनका कर्तव्य है कि वे प्रभु के ज्ञान और आनन्द का विस्तार करें। आनन्द का महासागर विश्व के कण-कण में व्याप्त है

और मनुष्य के अन्तःकरण में आनन्द से आप्लावित होने का सहज स्वभाव भी है। किन्तु संसारी संघर्षों और संकीर्ण स्वार्थों में उलझकर मनुष्य उस चतुर्दिक् व्याप्त विश्व वैभव का आनन्द नहीं ले पाता। उसकी स्वार्थलिप्त दृष्टि अपने तुच्छ विग्रहों के आगे कुछ देख नहीं पाती। आध्यात्मिक आनन्द लेने की शक्ति उसके हृदय में प्रसुप्त ही रहती है।

उसे जगाने का कार्य ऐसे सच्चे सन्त ही कर सकते हैं जिनकी वाणी में ईश्वर-प्रेम का माधुर्य होता है। हृदय के प्रेम-रस में डूबे स्वर ही श्रोता को मन्त्रमुग्ध कर सकते हैं। इसीलिए वाणी से प्रेम-वर्षा करनेवाले स्वर-स्वामी को पहले अपने हृदय में प्रेम का अनन्त सरोवर भरना होगा।

जिसके हृदय में प्रभु-प्रेम का आनन्दसागर न होगा वह केवल स्वर-साधना से या गायकी के अनवरत अभ्यास से आनन्द की वर्षा नहीं कर सकेगा। आनन्द से ही आनन्द की सृष्टि होती है। आनन्दमय प्रभु स्वयं जिस हृदय में निवास करेंगे उस हृदय से मुखरित संगीत ही श्रोताओं के हृदय-कमल को खिला सकेगा।

अपने हृदय-मन्दिर में आनन्दमय प्रभु को प्रतिष्ठित करो, आनन्द का झरना स्वयं प्रवाहित होकर चारों ओर के वन-उद्यानों का अभिसिंचन कर देगा। प्यासी धरती तृप्त हो जायगी। कुम्हलाए फूल खिल उठेंगे। कोटि-कोटि मानव कण्ठों से आनन्दभरी स्वर-गंगा स्वयं प्रवाहित हो उठेगी।

१६

देवता : अग्निः ।

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता ।
सखा सख्या समिध्यसे ॥

ऋक् : ८।४३।१४ ॥

हे अग्ने (**अग्निना समिध्यसे**) तुम अग्नि से प्रदीप्त होते हो। हे विप्र (**त्वं विप्रेण**) हे परमज्ञानी तुम ज्ञान से, हे (**सन् त्वं सता**) श्रेष्ठतम, तुम श्रेष्ठ विचारों एवं कर्मों से, हे सखा (**त्वं सख्या**) तुम प्रेम-भक्ति से प्रकट होते हो।

सब मनुष्य भिन्न स्वभाव—रुचि के होते हैं। रूप और आकार प्रकार में ही वे अलग अलग नहीं होते— बल्कि गुणों में भी अलग होते हैं। किन्तु परमेश्वर की ओर से सबको कुछ ऐसे विशिष्ट गुण प्राप्त होते हैं कि सब उन गुणों का विकास करते हुए प्रभु की समीपता पा सकते हैं। विशुद्ध आनन्द की प्रतीति कर सकते हैं। अपने कर्मों से कल्याण में अपना योग देने की क्षमता रखते हैं। अपने कर्मों द्वारा भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान् स्वयं प्रकाशित हैं, सर्वगुणसम्पन्न हैं, सर्वज्ञ हैं और प्रेम के मूर्तरूप हैं। उनकी तेजस्विता का अंश लेकर ही कुछ मानव स्वभाव से तेजस्वी होते हैं अग्निगुण प्रधान होते

हैं। वे तेजोमय कर्म द्वारा साहस-शौर्य-पराक्रम द्वारा जगत् का कल्याण करके जीवन को सार्थक बना सकते हैं।

भगवान् विप्र हैं, सर्वज्ञ हैं—ज्ञानस्वरूप हैं। बुद्धिबल के धनी व्यक्ति विश्व के रहस्यों का गहरा ज्ञान प्राप्त करके तत्त्वदर्शी बनते हुए ज्ञान-मार्ग से ईश्वर की सामीप्यता अनुभव कर सकते हैं। वे ज्ञान के महासागर में गोता लगाकर परम-सत्य को उपलब्ध करके आनन्दित होते हैं।

भगवान् सत्स्वरूप हैं। विशुद्ध हृदय, निर्मलचित्त वाले सज्जन—सन्त अपने सत्य सरल व्यवहार से ईश्वर का वरदान पाने के अधिकारी बनते हैं। छल-कपट से दूर रहते हुए वे राग-द्वेष से शीघ्र मुक्त हो जाते हैं, संसार के संघर्षमय जीवन से तटस्थ रहकर तथा सब प्रकार के पक्षपातों से अछूते रहते हुए उन्हें शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द की समीपता का सहज अनुभव हो जाता है।

भगवान् प्रेम रूप है। सखा भाव से भी उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। मानव हृदय में प्रेम का जो बीज है वह भगवान् के ही प्रेम का अंश है। अपने सख्यभाव से, प्रेम से ही ईश्वर सृष्टि का निर्माण करता है। निर्माण करके सखाभाव से ही पालन करता है। मनुष्य का सबसे अन्तरंग मित्र भगवान् ही है। इसीलिए प्रत्येक विपत्ति में मनुष्य भगवान् को ही स्मरण करके आश्वासन पाता है। सखाभाव से युक्त व्यक्ति भक्ति-मार्ग से ही भगवान् के मन्दिर तक पहुंचते हैं। दुःख में तो सभी भगवान् का स्मरण कर लेते हैं किन्तु जो सुख में भी भगवान् का स्मरण करते हैं श्रद्धावनत मस्तक से सुखस्वरूप सुखप्रदाता का धन्यवाद करते हैं, कृतज्ञता भरे हृदय से प्रभु-चरणों में प्रेमाश्रु बहाते हैं—वे प्रभु-प्रेम के गहन आनन्द की प्रतीति करते हैं।

१७

देवता : आत्मा ।

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।।

अथर्व : १०।८।३२ ।।

मनुष्य (**अन्ति सन्तं न जहाति**) यद्यपि बहुत निकट विद्यमान [परमेश्वर] से विमुक्त नहीं होता, किन्तु (**अन्ति सन्तं न पश्यति**) बहुत निकट होते हुए भी उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता । हे मनुष्य ! तू (**देवस्य काव्यं पश्य**) परमात्मा की दिव्य रचना को देख जो स्वयं (**न ममार न जीर्यति**) कभी जीर्ण नहीं होती, कभी मरती नहीं ।

परम प्रभु इतने सूक्ष्म और रहस्यमय ढंग से प्रत्येक मानव में उसकी नस-नस में बसे हुए हैं कि उनकी अनुभूति का आभास होते हुए भी न तो बाह्यचक्षुओं से उनके दर्शन कर सकते हैं, न उनके व्योमव्याप्त स्वरों का श्रवण कर सकते हैं । हमारी सूक्ष्मेन्द्रियां भी उनको नहीं पा सकतीं ।

प्रभु की यह अतिनिकटता ही उनके दर्शन में बाधा बन गई । आंखें अपने को नहीं देख पातीं, कान अपने स्वर को सच्चे रूप में सुन नहीं पाते और ज्ञानकेन्द्र मस्तिष्क अपनी परख स्वयं नहीं कर सकता । इसलिए अपने प्रतिबिंब में ही हम

अपने को देखते हैं, और प्रतिध्वनित स्वर में ही अपने स्वर की वास्तविकता को पहचानने का यत्न करते हैं।

हमारे कृतित्व में ही हमारा व्यक्तित्व अभिव्यक्ति पाता है। अपनी कला में ही कलाकार की आत्मा चित्रित होती है। प्रभु की काव्यमय अभिव्यक्ति भी उसके मूर्त संसार में होती है। हमें उसके काव्य-सौरभ को देखकर उसकी दिव्यता का आभास मिलता है। वेद-वाणी में प्रभु स्वयं आदेश देते हैं—**'पश्य देवस्य काव्यम्'** 'परम देव को दिव्य काव्य में देखो।'

विश्व की भव्यता और सुन्दरता उसमें समाये मनमोहक प्रभु के कारण ही है। वही आदित्य में ज्योति है, फूल में सुगन्ध है, पानी में शीतलता है। उषाकाल की स्वर्णिम आभा में वही है और ढलती सांझ के सांवले रूप में भी उसी की सुषमा है।

तर्क-वितर्क के भ्रमजाल से ऊपर उठकर जो प्रभु के अनन्त सम्मोहक रूप में खो जाते हैं—वही उसे पाते हैं। प्रभु की माया में ही सत्य की अनुभूति करने वाले उसे पा जाते हैं। उसकी रहस्यमयता का कोई पार नहीं पा सकता। अल्पज्ञ मनुष्य की बौद्धिक प्रतिभा से प्रभु की महत्ता को नहीं मापा जा सकता। बुद्धि के दर्पण में उसकी छवि नहीं उतर सकती।

किन्तु हृदय में निवास करने वाली आत्म चेतना के स्वर विश्वात्मा के स्वरों में विलीन हो सकते हैं। अन्तर्वासी आत्मा को निर्मल बनाकर उसमें परमात्मा की ज्योति का बिम्ब उतारना संभव है। अजर-अमर प्रकृति पर खिंचा हुआ ईश्वर का वह प्रतिबिम्ब भी अजर-अमर है।

१८

देवता : अग्निः ।

यो अग्निं तन्वो दमे देवं मर्तः सपर्यति ।
तस्मा इद् दीदयद् वसुः ।।

ऋक् : ८।४४।१५॥

(**यः मर्तः तन्वो दमे**) जो मनुष्य देह की अन्तर्वासिनी (**देवं अग्नि सपर्यति**) दिव्य आत्म ज्योति को प्रदीप्त करता है (**तस्मै इत् वसु दीदयत्**) उसे ही प्राणदाता प्रजापति अपने श्रेष्ठतम ऐश्वर्य का दान करते हैं।

प्रायः सभी मनुष्य अपने पुरुषार्थ से सांसारिक ऐश्वर्य के लिए प्रयत्न करते हैं। और इन्द्रियों की भोग क्षमता को बढ़ा-कर संसारी सुख पाने का लक्ष्य बनाते हैं। इन्द्रियों की आग को प्रदीप्त करने और उसे तृप्त करने में ही जीवन की सार्थकता समझते हैं।

इस प्रयत्न में इन्द्रियों की भोगलालसा इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्य का मन इन्द्रियों का ही दास हो जाता है। दासता स्वीकार करते ही आत्मा की ज्योति मन्द पड़ जाती है। आत्मा का वर्चस्व समाप्त हो जाता है। इन्द्रियों के विषयभोग का गुलाम होते ही आत्मा का हनन हो जाता है।

ऐसे निर्जीव आत्मा को परमात्मा के सात्विक आनन्द का

वरदान नहीं मिलता। आत्महीन व्यक्ति संसारी सुखों के संघर्ष में पड़कर क्षणिक सुख का भोग भले ही कर ले, स्थायी आनन्द पाने का अधिकार खो देता है।

इसीलिए वेद का आदेश है कि आनन्द के लिए आत्मा की अग्नि को प्रदीप्त करो। विषय भोग के बन्धन से मुक्त करके उसे अध्यात्म मार्ग में युक्त करो। तभी उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर की मायावी जंजीरों से मुक्ति मिलेगी। हृदय का सच्चा ज्ञान प्रबुद्ध होगा।

यह जीवन एक विशाल यज्ञशाला है। उसमें आत्म-समिधा की आहुति देकर आत्मिक प्रकाश को प्रबुद्ध करो। उस प्रकाश के मार्ग पर चलकर ही ईश्वर का साक्षात्कार होगा।

वही प्रकाश है जो जगत् के नानात्व में एकत्व के दर्शन करायेगा। उस अन्तः प्रकाश से ही मनुष्य को ईश्वर-बोध होगा। ईश्वरीय माया में निहित सत्य के दर्शन होंगे। जिस हिरण्यमय आवरण से सत्य का रूप छिपा हुआ है, उसे आत्म-प्रदीप्त मनुष्य ही निरावृत कर सकेगा।

बाह्य अग्नि के प्रकाश में, चाहे हजार सूर्यों का ही प्रकाश क्यों न हो, चरम सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकेगी। यह लक्ष्य अन्तर्ज्योति के प्रकाश में ही सिद्ध होगा।

१६

देवता : इन्द्रः ।

स नः शक्रश्चिदा शकद् दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ।।

ऋक् : ८।३२।१२ ।।

(**स शक्रः न चित् आशकत्**) वह शक्तिमान् प्रभु हमें शक्ति-युक्त करे। वही (**दानवाँ अन्तराभरः**) परम दानी है और अन्तर के अभाव को भरने वाला है। वही (**इन्द्रः विश्वाभिः ऊतिभिः—आशकत्**) इन्द्र रक्षा के सब साधनों से हमें शक्ति युक्त करे।

इस अनन्त ब्रह्माण्ड में मनुष्य के अस्तित्व का कोई महत्त्व नहीं यदि वह परम पुरुष से अपना सम्बन्ध न जोड़े। अपने बुद्धि-चातुर्य से थोड़ा बहुत हेरफेर करके वह सर्वज्ञ होने का अभिमान करने लगता है—किन्तु एक क्षण ऐसा आता है जब बड़ा-से-बड़ा ज्ञानी या विज्ञानी भी अपने ही अस्तित्व की रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना करने को विवश हो जाता है। मनुष्य का बड़े से बड़ा पुरुषार्थ या बुद्धिबल उसे प्राणों की भिक्षा देने में समर्थ नहीं होता।

बाह्य जगत् के ऐश्वर्य पर विजयी होने का अभिमान कोई कुछ क्षण के लिए कर भी ले तो भी अन्तर का खोखला मन

भरने के लिए उसे कोई संसारी साधन प्रभावकारी नहीं लगता। हृदय की रिक्तता भरने और मन में अक्षुण्ण आनन्द का दीप जलाने के लिए उसके सामने सब संसारी वैभवों की असमर्थता प्रकट हो चुकी होती है। बड़े से बड़ा सम्राट् भी तब भिखारी बन जाता है। विश्व पर विजय पाने वाले विश्व विजेता का हृदय भी आन्तरिक अशान्ति की आंधी से विह्वल हो उठता है।

वेद का आदेश है कि अन्तःकरण की रिक्तता को भरने और अन्धकार को मिटाने के लिए केवल भगवान् का आशीर्वाद ही सार्थक हो सकता है। आत्मिक शान्ति, आत्मिक आनन्द केवल भगवान् के प्रति समर्पित भावना से कर्म करने में ही है।

मनुष्य बहुत अल्पज्ञ है, अल्पशक्तियों का स्वामी है। उसकी आंखें दूर तक नहीं देख पातीं। इष्टसिद्धि में थोड़ा सा विलम्ब होने पर ही वह निराशा में डूब जाता है। केवल अपनी बुद्धि और कल्पना पर भरोसा करके वह अपनी जीवन-यात्रा पूरी नहीं कर सकता। अपने से महत् शक्ति पर भरोसा करना उसके लिए अनिवार्य है।

गहनतम अन्धेरे में भी प्रकाश की किरण उसे तभी दिखलाई देगी यदि वह सर्वसमर्थ प्रभु की करुणा पर भरोसा करता है। संसार में जीवन और मृत्यु-दोनों के शक्तिशाली दूत व्याप्त हैं। भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य को मृत्यु से बचते हुए जीवन-यात्रा करने का सामर्थ्य दिया है। किन्तु यह सामर्थ्य तभी तक रहता है जब तक वह इसके शाश्वत स्रोत को स्मरण रखे। तभी वह प्रतिदिन की विपदाओं पर विजय पाते हुए पूरे विश्वास के साथ अपने कर्तव्य कर्म कर सकेगा।

२०

देवता : इन्द्रः ।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥

ऋक् : १।६।३।

हे इन्द्र ! तू (**मर्याः अकेतवे केतुं कृण्वन्**) मरणशील पार्थिव ज्ञानशून्य शरीर में जीवन और ज्ञान की ज्योति जगाता हुआ तथा (**अपेशसे पेशः कृण्वन्**) निःसंज्ञ कुरूपजगत् में सौन्दर्य सौरभ भरता हुआ (**उषद्भिः सम् अजायथाः**) ज्ञान-जागरण पूर्ण किरणों के साथ प्रकट होता है ।

नाम-रूप सम्पन्न सृष्टि के उदय से पूर्व प्रकृति सर्वथा निर्जीव थी । भगवान् के संकल्प के साथ अन्तरिक्ष के महार्णव में गति का प्रारम्भ हुआ, प्रकृति में राजस गुणों का संचार प्रकट होने के साथ प्रकाश और अन्धकार भेद हुआ । परमेश्वर के अन्तर में ही हिरण्यमय प्राणकोश निहित था । उसी से निर्जीव जगत् में चेतनता आई । ज्ञानशून्य पार्थिव पदार्थों ने विशेष रूपों में प्रकट होना प्रारम्भ कर दिया ।

भगवान् के तेजस् अंश से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सब प्रकाशपुञ्जों को ज्योति मिली । भगवान् के ज्ञानमय प्राणकोश से मनुष्य को ज्ञान की किरणें प्राप्त हुईं । ज्योति और ज्ञान-

किरणों के प्रथम उदय-काल को ही उषाकाल का समय कहते हैं। उषाकाल की स्वर्णिम वेला में झिलमिल प्रकाश से विश्व का अन्तरिक्ष आप्लावित हो उठा।

यही ईश्वरीय चमत्कार है कि भगवान् की ज्योति किरण के प्रथम स्पर्श से ही जो शब्दहीन, निर्जीव और मौन था वह मुखरित हो उठा। उषाकाल का आभास पाते ही प्राणियों का हृदय मधुर स्वरों से भर गया। वे स्वर शून्य आकाश में गूंजने लगे। पौधों की नयी कोंपलों में पावन प्रभा छा गयी। पवन के स्पर्श से उनकी पंखुड़ियों ने खुलना प्रारम्भ कर दिया। जड़-जगत् में जीवन का प्रकाश भर गया। मरुभूमि की सूखी रज में भी चेतनता के स्वर फूट पड़े।

अपने अस्तित्व को व्यक्त करने के लिए ही भगवान् ने प्रकृति में ज्योति और ज्ञान की किरणों का प्रसार किया है। विश्व की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का लक्ष्य विश्वात्मा की अभिव्यक्ति है। इस रहस्य को जानकर ही ऋषियों ने ईश्वर-साक्षात्कार को जीवन का लक्ष्य माना है। इस लक्ष्य की साधना का मार्ग भी ज्योति और ज्ञान से पूर्ण होने के कारण प्रकाशमय और आनन्दमय हो, इसीलिए विश्वात्मा से सम्पर्क होने की प्रथम अनुभूति के साथ ही आनन्द का द्वार खुल जाता है।

२१

देवता : शतात्मा ।

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति ।
तथा युजा वि वावृते ॥

ऋक् : १०।३३।६।

(**देवानां व्रतं अति शतात्मा चन जीवति**) ईश्वर नियुक्त देवशक्तियों के व्रत, नियमों का अतिक्रमण शतगुणा आत्मशक्ति रखने वाला मनुष्य भी करे तो जीवन-रक्षा नहीं कर सकता। (**तथा युजा विवावृते**) करने पर उसे संसार से वियुक्त होना पड़ेगा।

अपने विशाल ब्रह्माण्ड का संचालन करने के लिए विराट् परम पुरुष ने जिन सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, वायु आदि देव शक्तियों को नियुक्त किया है; और उनके लिए जिस विधान का निर्माण किया है। उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। ये देवता स्वयं भी सर्वनियामक प्रभु के नियमों के सूत्र में बंधे चल रहे हैं।

अग्नि का धर्म उष्णता देना है, जल का शीतलता प्रदान करना। पवन प्राण देता है। जिस रीति-नीति से ये देवता अपना धर्म निभाते हैं उससे विपरीत वे नहीं चल सकते।

कोई मनुष्य अपनी आत्मशक्ति का प्रचंड तेज प्रदर्शित करने

के लिए ईश्वर-निर्धारित नियमों के विपरीत इनसे कार्य कराने का गर्व करेगा तो वह मनुष्य चाहे कितना ही आत्मशक्ति का साधक होगा, कभी सफल न होगा।

सच तो यह है कि सच्चा आत्मज्ञानी साधक इन भौतिक शक्तियों से अपने धर्म-विरुद्ध कार्य करवाने की चुनौती देगा ही नहीं। किन्तु यदि कोई ऐसा हठ करेगा तो उसे अपने दुःसाहस का दण्ड अवश्य मिलेगा।

ईश्वर की दृष्टि में मानवसृष्टि और भौतिक देवसृष्टि का एक समान महत्त्व है। विश्व-संचालन में भौतिक प्रकृति के सहयोग का उतना ही महत्त्व है जितना मानव की आत्मशक्ति का। ईश्वर के अनुशासन में प्रकृति और जीव को एक साथ कार्य करना है।

इसलिए मनुष्य को विधाता के विधिविधानों का पालन करते हुए भौतिक देवशक्तियों के सहयोग का पूर्ण आदर करना चाहिए। भौतिक शक्तियाँ भी मनुष्य की जीवन यात्रा को सुखद बनाने के लिए पूर्ण सहयोग दे रही हैं। उस सहयोग के प्रति पूरी तरह कृतज्ञ होते हुए ही आत्म प्रधान मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन-यापन कर सकता है। विरोध प्रदर्शित करने से मनुष्य का अस्तित्व मिट जायेगा। इन देवशक्तियों का विरोध परमप्रभु के प्रति विरोध भाव रखने के समान है। इस धर्महीनता का दण्ड अवश्य मिलेगा।

२२

देवता : परमात्मा ।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्, परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य, आत्मनात्मानमभिसंविवेश॥

यजु० : ३२।११॥

(**भूतानि परीत्य**) अनेक योनियों में घूमकर (**लोकान् परीत्य**) नाना लोकों में विचरण कर (**सर्वाः दिशः प्रदिशश्च परीत्य**) सब दिशा विदिशाओं में भी घूमकर (**ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय**) सत्यस्वरूप वेदवाणी एवं प्रकृत आनन्द की आत्मानुभूति का आश्रय मिलने पर (**आत्मना आत्मानमभिसंविवेश**) आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार करता है।

समस्त विश्व की गहराई में डूबी हुई विश्वात्मा को खोजना, उसका साक्षात्कार करना ही मनुष्य जीवन का ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए मनुष्य कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्ग से चलता हुआ परमात्मा की निकटता पाने का यत्न करता है। किन्तु अल्पज्ञ होने के कारण पथभ्रष्ट हो जाता है। कर्म, अकर्म को समझना कठिन कार्य है। राह भूलकर वह विकर्म में भटक जाता है।

प्रकृति के भोग उसे अपनी ओर खींच लेते हैं। भोगासक्त होकर उसकी परमात्मा से दूरी बढ़ती जाती है।

क्षणिक तृप्ति के लोभ में मनुष्य ऐसे कार्य करने में प्रवृत्त हो जाता है जो उसे सत्य और न्याय के मार्ग से दूर ले जाते हैं। जिनका लक्ष्य कल्याण-सम्पादन नहीं बल्कि स्वार्थ-साधन होता है। ईश्वर के समीप ले जाने वाला कार्य कभी अकल्याणकारी नहीं हो सकता—इस तथ्य को वह स्वार्थलोलुप व्यक्ति भूल जाता है।

अमंगलकारी कार्यों का परिणाम यह होता है कि उसे मनुष्य योनि से भी पतित ऐसी योनि में जन्म लेना पड़ता है, जहां स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं होता। केवल फल भोगना ही भाग्य में लिखा होता है। ऐसी योनियों में उसका उत्कर्ष संभव नहीं है। भोगों से मुक्ति पाकर वह पुनः मनुष्य-योनि में आता है। भगवान् की कृपा से उस आत्मा को पुनः ईश्वर के समीप ले जाने वाले मार्ग पर चलने का अवसर मिलता है।

मनुष्य योनि में यदि वह क्षणिक सुखों के मार्ग को छोड़कर रागद्वेष से मुक्त हृदय के साथ अनासक्त मन से मंगल कार्यों में प्रवृत्त हो तो मनुष्य इसी जीवन में भोगमुक्त होने की अनुभूति कर लेता है। अमृतत्व की प्रथम अछूती विशुद्ध ज्ञान-किरण के प्रकाश से उसके हृदय का समस्त अन्धकार मिट जाता है। ज्ञान की इस अमृतमयी प्रथम किरण का केवल अनासक्त और सर्वतः शुद्ध पवित्र मन में ही उद्भव होता है। विषय-भोग में लिप्त मनुष्य के हृदय में उसका प्रकाश नहीं पहुंचता।

जैसे निर्मल दर्पण ही सूर्य किरण को प्रतिक्षिप्त कर सकता है वैसे ही पवित्र-पावन आत्मा को ही इस प्रथमजा अमृतमयी किरण के प्रकाश में परमात्मा का बोध होता है। इस बोध से उसकी जीवन-यात्रा सार्थक हो जाती है।

२३

देवता : द्यावापृथिव्यौ ।

इदमुच्छ्रेयो ऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु

अथर्व : १६।१४।१

(**इदम् उत् श्रेयः**) अब तो निश्चय से यही श्रेयस्कर है। (**अवसानम् आगाम्**) संसारी कार्यकलाप का विराम कर दें अब (**द्यावापृथिवी मे शिवे अभूताम्**) द्युलोक, पृथिवीलो की देवशक्तियाँ ही मेरे लिए कल्याणकर होंगी। (**प्रदिशः असपत्ना भवन्तु**) दिशा—दिशान्तर के सब चराचर मेरे लि मित्रभाव। रखें (**त्वां न वै द्विष्मः**) जो अभी तक शत्रुभा रखता था, उसके लिए मेरे मन में द्वेष न रहे। (**नः अभय अस्तु**) मेरे लिए भी सब भय रहित रहें, मुझे किसी से भ न लगे।

जीवन के सन्ध्याकाल में—जब मनुष्य कार्य-क्षेत्र में संघ करते करते थक जाए, शरीर में जवानी का-सा बल न रहे त आत्मगत यही विचार करे और प्रभु से भी यही प्रार्थना करे कि वार्धक्य में उसे विश्रान्ति मिले। संघर्षों का अन्त हो। संसार जीवन के कलह कोलाहल से हटकर एकान्तचिन्तन एवं ज्ञा विज्ञान के अध्ययन-मनन में समय लगाने का अवकाश मिले

गृहस्थ जीवन में परिवार के पालन पोषण की जिम्मेदारी निभाने के बाद प्रत्येक चिन्तनशील मनुष्य के मन में विषयभोग से विरक्ति का भाव उदय होता है और वह धन-वैभव के संचय, पदलिप्सा के लोभ से हटकर अन्तर्मुखी हो जाता है। यह स्वाभाविक है।

उस समय तक उसके ज्ञान का भी परिपाक हो जाता है। अनुभवों से भी सच्ची राह का पता लग जाता है। उसके हृदय की आस्था भी मज़बूत हो जाती है। और वह अनुभूति के बल पर अपनी रक्षा का दायित्व द्यावापृथिवी के देवताओं पर छोड़ सकता है।

मन से अहंकार के नाश के साथ यह तात्त्विक ज्ञान भी हृदय में बैठ जाता है कि मनुष्य केवल पुरुषार्थ कर सकता है, फल देना परमदेव के हाथ है। वह भवितव्य होकर रहता है। दैवी शक्तियाँ अपना कार्य प्रभु की इच्छा से करती रहती हैं। मनुष्य का कर्तृत्व बहुत परिमित मात्रा में स्वतन्त्र है, फलाफल ईश्वराधीन है।

जीवन-संघर्षों से विश्राम के समय उसका मन संसारी रागद्वेष से विरक्त हो जाता है। हृदय से द्वेषभाव का परित्याग करते ही उसे चारों ओर के भयों से मुक्ति मिल जाती है। भय के मूल में प्रायः द्वेष ही होता है। द्वेषमूलक आवेशों से मुक्त होते ही मनुष्य का मन निर्भीक हो जाता है।

इस मन्त्र का पाठ मन को शान्ति देने के लिए अनुपम है। संसार-निवृत्त मनुष्यों के हृदय में अंकित होकर यह वेदवाणी चरम शान्ति और विश्राम का संदेश देती है।

२४

देवता : अग्निः ।

उप त्वा अग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥

ऋक् : १।१।७॥

हे अग्ने ! (**वयं दिवे दिवे दोषावस्तः**) हम दिन प्रतिदिन अहोरात्र सांझ-सवेरे (**धिया नमो भरन्तः**) बुद्धि व कर्म से नमस्कार की भेंट लाते हुए (**त्वा उप एमसि**) तेरे समीप आ रहे हैं।

मनुष्य की जीवन-यात्रा का लक्ष्य भगवान् की समीपता पाना है, आनन्दस्वरूप परमेश्वर के आनन्द का वरदान प्राप्त करना है। यह ज्ञान होने के बाद मनुष्य अपने प्रत्येक विचार और कार्य से इस मार्ग में आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है।

इस प्रयत्न की सफलता का मर्म यही है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षण—दिन हो या रात, सांझ हो या सवेरा, निरन्तर एकाग्र मन से इस मार्ग पर अग्रसर होता जाये।

दिन और रात की इन सीढ़ियों पर चढ़ना आसान नहीं है। इनके प्रत्येक कदम पर प्रलोभन हैं। कहीं रंगीन भोगों का आकर्षण है तो कहीं निराशा के पाषाण हैं।

ये सोपान कहीं टूटे-फूटे हैं और कहीं इतने चिकने हैं कि मन के पहिये फिसलकर नीचे गिर जायें। इन पर रात-दिन

अनवरत चढ़ना सिद्ध ज्ञानी पुरुषों का ही काम है।

इस रास्ते पर बहुत सजग रहकर चलनेवाला ही लक्ष्य तक पहुंच पाता है। बड़े-बड़े मनस्वी भी इस राह पर सावधानी से न चलने के कारण फिसल चुके हैं। केवल बुद्धिबल के सहारे या श्रद्धाबल के भरोसे यह मार्ग तय नहीं किया जा सकता। दोनों का संतुलन और सहयोग आवश्यक है। केवल कठोर तपस्या की शक्ति भी मार्ग को सरल नहीं बनाती। शरीर को कष्ट देने से ही आत्मा का मार्ग सरल नहीं हो जाता।

ध्यान-धारणा के साथ हृदय की अगाध श्रद्धा का मिश्रण भी होना चाहिए। कर्मयोगी होते हुए समर्पण-भावना भी आवश्यक है। बुद्धि पूर्वक भक्ति के मार्ग पर चलने से ही मार्ग की कठिनाइयां दूर होंगी।

प्रायः ज्ञान की सम्पत्ति आते ही मनुष्य-हृदय अभिमानी हो जाता है। अहंकार की भावना मन को प्रभु के प्रति समर्पित नहीं होने देती। अहंभाव की प्रबलता होते ही मनुष्य पथभ्रष्ट हो जाता है। ईश्वर के कल्याण मार्ग को छोड़कर वह अपने ही उत्कर्ष की तलाश में भटक जाता है।

परमार्थ-साधना और स्वार्थ-साधना में परस्पर विरोध है। ईश्वर के समीप ले जाने वाला मार्ग पूर्णतः परमार्थ का पथ है। इस पथ पर अहोरात्र भक्तिपूर्वक निष्काम कर्म करते हुए ही आगे बढ़ सकते हैं। यही वेद का संदेश है।

२५

देवता : रात्रिः ।

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि ।
उषा नो अह्ने परि ददातु अहस्तुभ्यं विभावरि ॥

अथर्व : १९।४८।२॥

(**मातः रात्रिः नः उषसे परिदेहि**) हे माता रात्रि ! हमें उषा-देवी की गोद में भली प्रकार दे देना। (**उषा नः अह्ने परि-ददातु**) उषा हमें दिवस के लिए दे दे। (**अहस्तुभ्यं विभावरि**) दिन का देवता सूर्य हमें फिर रात्रिमाता की गोद में शान्ति-पूर्वक नींद के लिए दे दे।

जैसे मां दिनभर खेलकूद से थके बच्चे को गोद में लिटाकर सुलाती है, वैसे ही रात्रि मां भी थके-हारे मनुष्यों को अपनी गोद में विश्राम देने के लिए सुलाती है। निद्रा से अधिक मीठी कोई चीज नहीं। नींद में विश्राम पाये बिना अगले दिन काम करने की शक्ति का संचय नहीं हो पाता। इसीलिए भगवान् ने सूर्यास्त की व्यवस्था करके अन्धकार में पूर्ण विश्रान्ति पाने का निर्देश दिया है।

मां रात्रि की गोद में पूर्णतः आश्वस्त होकर सोने के बाद कर्ममय जीवन में जागृति का सन्देश लेकर उषा का आगमन होता है। भुवन मोहिनी उषा हमें रात्रि माता की गोद से

उठाकर सप्ताश्व सूर्य के वेगवान् रथ पर बिठा देती है। हम सूर्य-किरणों से नये प्राण पाकर कर्मक्षेत्र में उतर जाते हैं।

भगवान् ने सारा जीवन विशाल कर्मक्षेत्र बनाया है। इस कार्यक्षेत्र में पुरुषार्थ किये बिना जीवन की एक घड़ी भी नहीं गुजरती। पौरुष पुरुष का धर्म है। अपने-अपने दायरे में प्रत्येक व्यक्ति को या प्राणी को पौरुष से ही उदरपूर्ति करनी पड़ती है। पशु-पक्षी या मनुष्य ही नहीं कीट-पतंगों तक को परिश्रम से ही जीवन की रक्षा करना अनिवार्य है।

मनुष्य का स्वभाव अन्य सबसे विभिन्न है। वह केवल उदरपूर्ति नहीं चाहता, समृद्धि और यश की भी कामना करता है। अत: उसके पुरुषार्थ की कोई सीमा नहीं। पुरुषार्थ के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, कार्यक्षेत्र जुदा-जुदा हो सकते हैं, किन्तु सबके मूल में पुरुषार्थ की अनिवार्यता तो है ही।

भगवान् इस कर्ममय मार्ग में स्वयं सहायक होते हैं। भगवत्कृपा से प्रकृति की महिमामयी देवशक्तियां—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल—सभी अपार करुणा से मनुष्य को उसके कार्य में अनन्त सहायता देती हैं। वे उस सहायता का कोई पुरस्कार नहीं चाहतीं। केवल ममतावश स्वभाव से ऐसा करती हैं—इसीलिए उन्हें वेद ने 'मां' की संज्ञा दी है।

२६

देवता : इन्द्रः।।

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञात् इन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ।।

ऋक् : १०।५७।१॥

(**इन्द्र ! वयं पथो मा प्रगाम**) हे सर्वसमर्थ प्रभो ! हम सन्मार्ग से विचलित न हों। (**वयं यज्ञात् मा प्रगाम**) हम यज्ञ से विचलित न हों। (**अरातयः मा नः अन्तस्थुः**) हमारी शत्रु विकार भावनाएं हमारे अन्तर में स्थित न हों।

मनुष्य जीवन की सफलता के लिये यही पर्याप्त नहीं कि वह उत्कर्ष के अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचे, बल्कि यह भी है कि वह अपनी लक्ष्यप्राप्ति सन्मार्ग पर चलता हुआ करे और उसका जीवन यज्ञमय हो।

असत् या अन्याय के मार्ग पर चलते हुए भी मनुष्य अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है, संसारी संघर्षों में विजय पा सकता है। किन्तु यदि उसने यह उत्कर्ष अन्याय एवं अत्याचार के साधनों का सहारा लेकर पाया है तो उसके उत्कर्ष का भगवान् की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं।

सन्मार्ग का अवलम्बन करना अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम अल्पज्ञ प्रायः छोटे मार्ग से अपनी

निर्धारित ऊंचाई तक पहुंचने का यत्न करते हैं। किन्तु यह अस्वाभाविक है। प्रत्येक लक्ष्य पर पहुंचने के लिए मार्ग की साधना अनिवार्य है। जो साधक लम्बे काल तक उच्छृङ्खल जीवन बिताते हुए केवल अल्पकालिक तप या भजन द्वारा ईश्वर की समीपता चाहते हैं वे भी अपनी मनोकामना पूर्ण नहीं कर सकते।

ईश्वर का सान्निध्य पाने के लिए व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक धर्मानुकूल आचरण करते हुए यम-नियम का पालन और यज्ञमय जीवन बिताना आवश्यक है।

यज्ञमय जीवन का निर्वाह करते हुए ही हमारे मनोगत विकारों से मुक्ति मिलती है। बाहर के शत्रुओं की अपेक्षा हमारे आन्तरिक शत्रु अधिक प्रबल हैं। हम प्रायः अपने से ही हारते हैं। बाह्य शत्रुओं की सेना को पराजित करने वाला योद्धा और विश्वविजयी राजा भी अपने हृदयगत काम-विकार का शिकार हो जाता है।

अन्तर्मन की निर्बलताएं निष्काम कर्म तथा प्रभु-समर्पित जीवन से ही दूर होती हैं। उनसे प्रतिक्षण युद्ध करना पड़ता है; सावधान रहना पड़ता है। अपनी समस्त भावनाओं को मंगलमयी बनाये बिना यज्ञ का लक्ष्य पूरा नहीं होता। समर्पण का ही दूसरा नाम यज्ञ है। श्रेष्ठ कर्मों को ही सम्पन्न करने का दृढ़ व्रत लेकर प्रत्येक दिन के प्रत्येक क्षण आत्मजयी बनते हुए विश्वात्मा के निर्देशन में चलना स्वयं श्रेष्ठतम कार्य है।

२७

देवता : वरुणः ।

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षु, उपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुः, अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥

ऋक् : ७।८६।३॥

(**वरुण ! तत् एनः पृच्छे**) हे वरुण देव ! मैं आपसे अपने उस पाप के सम्बन्ध में पूछना चाहता हूं जिसके कारण मुझे आपके दर्शन नहीं हो पाते । (**दिदृक्षुः अहं विपृच्छम् चिकितुषः उप एमि**) आपके साक्षात्कार की इच्छा से मैं प्रश्न पूछता हुआ विद्वानों के पास जाता हूं । परन्तु (**कवयः चित् समानं इत् आहुः**) सभी विद्वान् यही बात समान रूप से कहते हैं कि (**अयं वरुणः ह तुभ्यं हृणीते**) यह वरुण देव ही तुझ से अप्रसन्न हैं ।

जीवन में अपनी बुद्धि से पूरी तरह धर्मानुकूल आचरण करते हुए तथा ईश्वर-भक्ति में पूरे मन से तल्लीन रहते हुए भी कभी-कभी हमारे मनोरथ सफल नहीं होते । हमारे कायिक कष्टों का अन्त नहीं होता । पूर्णतः धार्मिक जीवन बिताते हुए भी अनेक बार अधार्मिक व्यक्तियों से भी अधिक कष्टों की यातना सहनी पड़ती है । शतशः सन्त जनों को कष्टों और अभावों में जीवन व्यतीत करते देखा जाता है ।

तब हम शास्त्रों के पारंगत विद्वानों से प्रश्न करते हैं कि

क्या पुण्य-पाप का सु:ख-दुख से कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या पुण्य-कर्मों का फल कष्टों में ही मिलता है ।

शास्त्रों के विद्वान् इस प्रश्न का उत्तर देने में कभी समर्थ नहीं होते । उन्हें प्रत्येक मनुष्य के जीवन की अन्तरंग बातों का ज्ञान नहीं होता । उसके पूर्वसंचित पापों की जानकारी भी नहीं होती । अनेक बार देखा गया है कि दैहिक कष्टों को शीघ्र भोगने का अवकाश देने के लिए भी साधु-सज्जन व्यक्तियों को अपेक्षाकृत अधिक शारीरिक कष्ट भुगतने पड़ते हैं । इससे वे शीघ्र जीवनमुक्त हो जाते हैं । विद्वानों का कोई भी उत्तर तार्किक व्यक्ति का समाधान नहीं कर पाता ।

अत: तर्कप्रिय व्यक्तियों को इन प्रश्नों के झमेले में नहीं पड़ना चाहिए । ईश्वर के न्याय का कोई पूर्व निर्धारित दण्डमान नहीं है । उसके न्याय पर श्रद्धा करके ही हम जीवन का लम्बा रास्ता तय कर सकते हैं । जिस प्रश्न का विद्वानों से समाधान नहीं होता उस प्रश्न का समाधान केवल अन्त:करण की शुद्धता से हो जाता है । इन्द्रियों का ज्ञान अधूरा होता है—अत: हमें इन्द्रियों की दासता स्वीकार नहीं करनी चाहिए । तभी हम भगवान् के वरदानों का लाभ उठा सकते हैं ।

२८

देवता : इन्द्रः ।

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा, मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो, रथे न पादमा दधुः ॥

ऋक् : ७।३२।२

(**यथा मधौ न मक्ष आसते**) जैसे मधुमक्षिकाएं मधु प बैठती हैं वैसे ही (**इमे ब्रह्मकृतः सुते सचा ते**) ये ब्रह्मज्ञा ज्ञान पुष्पों पर ज्ञान-संचय के लिए एकत्र हो जाते हैं, वैसे ह भी हों। (**वसूयवः जरितारः कामम् इन्द्रे आदधुः**) ब्रह्म-जिज्ञा भक्त अपनी कामनाएं वैसे ही भगवान् के अर्पित कर देते है (**यथा रथेन पादमा-दधुः**) जैसे रथ से यात्रा करने वाला र पर पैर रखता है, वैसे हम भी करें।

ज्ञान का सागर अनन्त-अपार है। मनुष्य के मन में ईश्व ने ज्ञान-संग्रह की स्वाभाविक इच्छा दी है। नया ज्ञान पाने स्वस्थ मनवाले प्रत्येक मनुष्य को आनन्द अनुभव होता है इसीलिए वह आर्थिक लाभ को ही लक्ष्य में रखकर नहीं बल्कि आन्तरिक सन्तोष और आनन्द के लिए प्रतिक्षण नया ज्ञान पाने को उत्सुक रहता है। ज्ञान-संग्रह के केन्द्र भी प्रायः निश्चित ही हैं। ज्ञान-विज्ञान की प्रयोगशालाएं भी हैं और शास्त्रज्ञान के लिए अध्ययनशील विद्वानों के विद्यापीठ भी हैं। इन केन्द्र

पर जिज्ञासु मनुष्यों का एकत्र होकर विचार-विनिमय और ज्ञान के आदान-प्रदान से ज्ञान-वृद्धि करने की प्रवृत्ति भगवान् ने सभी मनुष्यों में वैसे ही दी हुई है जैसे मधुसंचय के लिये वन-उपवनों में उड़कर जानेवाली मधुमक्खियों में मधुसंचय की। भगवान् द्वारा प्रदत्त इस सहज प्रवृत्ति में और भी वृद्धि करके मनुष्य को ज्ञान-संचय में सदैव प्रवृत्त रहना चाहिए— यह वेद का आदेश है।

इसी मन्त्र में वेद का दूसरा आदेश यह है कि मनुष्य को अपनी मनोकामनाएं पूर्ण करने के लिए केवल अपने प्रयत्नों पर भरोसा नहीं करना चाहिए। कामनाएं प्रायः मनुष्य को असंयत बना देती हैं। उनकी पूर्ति करते-करते उसके मन में नई कामनाओं का ज्वार उमड़ पड़ता है। मनुष्य कामनाओं का दास बनकर हमेशा बेचैन रहता है।

इसलिए कामनाओं को भगवान् के अर्पित करने का आदेश दिया गया है। संसार का रथ बड़े वेग से भागता रहता है। कालचक्र किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, उसके वेग के समान गति से बढ़ना मनुष्य के लिए संभव ही नहीं है। अतः बड़े से बड़े कर्मयोगी भी अपने सब कर्म एवं अपनी सब कामनाएं प्रभु के अर्पण कर देते हैं। इस प्रकार कर्मठ मनुष्य फलाफल की दुराशाओं से बच जाता है। केवल कर्म करना ही मेरे वश में है, इस भावना का उदय होने पर वह कभी कर्म से निराशाग्रस्त नहीं होता। ऐसे निरीह निर्दोष जिज्ञासु को प्रभु अपने पास जगह देते हैं। वही ईश्वर का साक्षात् दर्शन करते हैं।

२६

देवता : पवमानः सोमः ।

अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।
रुचे जनन्त सूर्यम् ।।

ऋक् : ६।२३।२

(**आयवः अनुप्रत्नासः**) मनुष्य प्रायः अनुकरण-प्रिय होते हैं (**नवीयो पदम्: अक्रमु**) वे भी नया पग उठायें । (**रुचे सूर्यं जनन्तः**) प्रकाश के लिए नया सूर्य पैदा कर लें ।

प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर ने अपनी सृजन-शक्ति का अंश दिया है। इसी से वह सृजन करता है। यह तब तक संभव नहीं है जब तक मनुष्य अपनी बुद्धि और अपने अनुभव के आधार पर मौलिक चिन्तन करने का अभ्यास न करे।

साधारणतः मनुष्य आलस्य या असफलता के प्रथम चरण में ही अपनी मौलिकता को खो देता है एवं घिसे-पिटे रास्तों पर कदम बढ़ाता जाता है। अपनी मौलिकता पर से उसका विश्वास ही उठ जाता है। वह किसी का अनुगामी बनकर ही जीवन के दिन पूरे कर देता है।

वेदवाणी मनुष्य के हृदय में विश्वास के बुझे हुए दीपक को अपनी दिव्य ज्योति से जाग्रत् करने की प्रेरणा देती है। वह केवल नया दीपक जलाने का आदेश नहीं देता बल्कि नया

रास्ता बनाने की भी प्रेरणा देता है। हम प्रायः पुराने रास्तों पर चलते हुए ही अपने परिश्रम की सार्थकता पर प्रसन्न रहते हैं। वैदिक मन्त्र स्पष्ट ही कहता है कि इस अनुगामिता में ही जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता। जिस प्रकार प्रतिदिन नया सूर्य निकलता है, नये नक्षत्र पैदा होते हैं उसी प्रकार जीवन के नये सत्य भी बनते हैं। काल-परिवर्तन के साथ सत्य के रूप में भी परिवर्तन होता रहता है। सत्य सदैव नया होता है। नवीन परिवेशों में उसे नया स्वरूप मिलना ही चाहिए।

नवीन सृजन आत्मा के प्रकाश में होता है। आत्महीन, निर्जीव व्यक्ति सृजन नहीं कर सकते। जिसमें स्वयं जीवन नहीं वह जीवित प्राणी या वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता।

आत्मा बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता। वह अन्त-र्ज्योति से प्रकाशित है। अन्तःप्रकाश के आधार पर ही वह नया पथ बना सकता है। बाह्य सूर्य के अभाव में उसे स्वयं सूर्य बनना होगा। जो स्वयं सूर्य नहीं बन सकता वह नये मार्ग का, अथवा नये विचार का सृजन कैसे करेगा। वेद का आदेश है असीम प्रेरणाओं के स्रोत अपने अन्तःसूर्य को प्रदीप्त करो। अन्तरात्मा की आदित्य रश्मियां ही प्राणवन्त सृष्टि का पथ उज्ज्वल करती हैं।

३०

देवता : इन्द्रः ।

मा त्वा मूरा अविष्यवो, मोपहस्वान मा दभन् ।
मा कीं ब्रह्मद्विषो वनः ।।

ऋक् : ८।४५।२३।

हे मेरे मन ! (**त्वा मूरा अविष्यवः**) तुझे मूर्ख और स्वार्थी लोग (**मा दभन् मा उपहस्वानः**) न दबा लें और न हंसी ठट्ठे से अपमानित करें । (**ब्रह्मद्विषः मा कीं वनः**) परमेश्वर से प्रीति न रखने वाले लोगों की संगति न कर ।

देव पन्थ पर चलने वाले मनुष्यों को वेद सावधान करता है कि तुम्हारे मार्ग में अनेक बाधाएं आयेंगी । उनसे भयभीत न होना । सावधान होकर चलो । संसार में भले बुरे सब प्रकार के मनुष्य हैं । सबके बीच रहते हुए ही मनुष्य को अपने निर्धारित मार्ग पर चलना होता है ।

सन्मार्ग पर चलने वाले मनुष्य की राह में कई प्रकार की बाधाएँ आती हैं । उनमें से एक यह है कि कुछ लोग मूर्ख हैं, बल्कि मूर्खों की ही संख्या अधिक है । वे बुद्धिमान् लोगों को केवल अपनी संख्या के बल पर या पशुबल के सहारे दबा लेते हैं । बुद्धिबल पशुबल के आगे कुछ देर के लिए पराजित हुआ प्रतीत होता है । ऐसे स्वार्थी मूर्ख व्यक्तियों से भयभीत नहीं

होना चाहिए। कल्याण मार्ग पर चलने वाले देवपुरुषों का सदा से उपहास होता आया है। उन पर तीक्ष्ण व्यंग्यबाणों की वर्षा हुई है। सत्य का अन्वेषण करने वाले महापुरुषों पर संसार के अज्ञानी पुरुषों ने सदा अत्याचार किया है। जो मनुष्य इन अत्याचारों या उपहासों से अप्रभावित रहकर सत्य पर अडिग रहते हैं वही सत्य के मार्ग पर चल सकते हैं।

जो संसार के स्वार्थी और विद्वेषपूर्ण साथियों को भी निःस्वार्थ प्रेम से सच्ची राह बतलाते रहते हैं उनकी वाणी में ही तेजस्विता आती है और ऐसे वीर पुरुष ही विजयी होते हैं।

किन्तु ऐसी अलौकिक क्षमता बहुत कम मनुष्यों में होती है। ऐसा साहस जो मृत्यु का भी स्वागत कर सके, इने-गिने असाधारण व्यक्ति ही कर सकते हैं। अतः साधारण मनुष्यों के लिए यही श्रेष्ठ है कि वे ब्रह्मद्वेषी, स्वार्थी और मूर्ख व्यक्तियों की संगति न करें। उनकी संगति से विद्वान् पुरुष भी व्यर्थ के संघर्षों में पड़कर अपनी शक्ति का अपव्यय करेगा। और मन में अशान्ति के बीज बो लेगा।

सामान्य व्यक्ति के लिए वेद का यही निर्देश है कि वह मूर्खों के बीच गहन विद्वत्ता की बात न करे। और स्वार्थी लोगों में केवल परोपकार हित, अपनी भलाई का परित्याग करने की साधु वृत्ति को न अपनाये। सबसे यथायोग्य व्यवहार करना ही विवेकयुक्त पुरुष के लिए उचित है।

३१

देवता : अग्निः ।

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ।।

ऋक् : ८।४५।२३।

(**अग्ने यत् अहं त्वं स्याम्**) हे ज्योतिस्वरूप ! जब मैं तुझ सा हो जाऊं या (**त्वं अहं स्याम्**) तू मैं हो जाये, तभी (**ते आशिषः सत्यः स्युः**) तेरे आशीर्वाद सत्य सफल होंगे ।

प्रभु के आशीर्वाद से ही जीवन के सब सुख मिलते हैं। मनुष्य अहंकारवश स्वयं को ही उन सब सुखों का कारण मान लेता है । फिर भी प्रभु का अपनी सन्तान पर ऐसा स्नेह है कि वह अनवरत सुखों की वर्षा करता ही रहता है । कभी वह पिता बनकर मनुष्य को संरक्षण देता है, कभी मित्र बनकर मार्ग दर्शन करता है और कभी माता बनकर अपनी ममतामयी गोद में ले लेता है ।

परमप्रभु के ज्ञानमय पथ दर्शन में हम जब प्रज्ञावान् होते हैं तो उत्कर्ष मार्ग पर चलते हुए प्रभु के गुण, कर्म, स्वभावानुसार अपने गुण-कर्म बनाने का यत्न करते हैं। हमारी आकांक्षा रहती है कि हम भी वैसे ही मेधावी, महादानी महाशक्ति सम्पन्न हो जायें ।

इस उद्योग में भी सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ परमेश्वर का सहयोग मनुष्य को प्राप्त होता है। अपनी परिमित शक्ति से वह प्रभुता पाने का यत्न करता है। अपने गुणों में वृद्धि करता है। किन्तु बहुत शीघ्र उसे अनुभव हो जाता है कि परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्य की तुलना में वह अणुमात्र भी नहीं है। मनुष्य को जब ईश्वर के विराट् विश्वरूप का आभास होता है तो उसका हृदय मन्त्रमुग्ध होकर केवल प्रभु-प्रेम की करुणा का प्रार्थी बन जाता है।

प्रेम की चरम-सीमा है प्रेमी में लीन हो जाना। अपना अस्तित्व खोकर उसके ही रूप में ऐसा मग्न हो जाना कि न केवल बाह्य चक्षुओं को उसका ही रूप दिखलायी दे बल्कि अन्तर्मन भी केवल उसके ही स्मरण में लीन हो जाय। अन्दर बाहर सर्वत्र परम प्रभु का ही बोध हो, शेष सब बोधों का अन्त हो जाय।

'तू' और 'मैं' की अभिन्नता होकर एकात्मता हो जाय। आत्मा जब अपने स्वरूप में स्थित होता है तब उसे प्रभु के साक्षात्कार का ऐसा अनुभव होता है और वह इस तादात्म्य की प्रतीति में ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है।

परमेश्वर की इस अत्यन्त समीपता को पाना ही जीवन का लक्ष्य है। प्रभु के आशीर्वाद से ही ऐसी समीपता पाने की क्षमता आत्मा में आती है। इस आशीर्वाद का अधिकारी बनने के लिए मनुष्य को जीवन में तप-त्याग करना होता है। ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए विश्वकल्याण में अपने जीवन की आहुति देनी होती है। तभी उसे परमेश्वर का यह आशीर्वाद प्राप्त होता है।

३२

देवता : इन्द्रः।

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रम्, प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्धि अस्मान्निधयेव बद्धान्॥

ऋक् : १०।७३।११॥

(**सुपर्णाः**) सुन्दर ज्ञान, कर्म और कल्पना रूपी पंखों से युक्त (**प्रियमेधाः**) मेधा सम्पन्न (**ऋषयः वयः**) ऋषिगण (**नाधमानाः इन्द्रं उपसेदुः**) प्रार्थना करते हुए अत्यन्त तेजस्वी गुरु के पास पहुंचे और प्रार्थना की कि (**ध्वान्तं अपोर्णुहि**) हमारे अज्ञान अन्धकार को दूर कीजिए (**चक्षुः पूर्धि**) हमारी आँखों को ज्ञान ज्योति से पूर्ण कीजिए और (**निधयेव बद्धान्**) अनेक बन्धनों में बंधी हमारी आत्मा को (**मुमुग्धि**) मुक्त कीजिये।

मनुष्य कितना ही ज्ञान प्राप्त कर ले, अनन्त उद्योग से वैभव संचय कर ले और प्रखर कल्पना से ऊंची उड़ान भर ले, उसका आत्मा तब तक पूर्णतः मुक्त नहीं होता जब तक परमेश्वर के आशीर्वाद से वह सभी प्रकार के अन्तः बाह्य बन्धनों से मुक्ति नहीं पा लेता।

जब तक वह परमेश्वर के प्रति श्रद्धावनत नहीं होता, पूर्णभावेन अपने सब कर्मों और सब मनोगत भावनाओं को ईश्वरार्पित नहीं कर देता तब तक उसके बन्धन नहीं टूटते।

अनेक बार ऐसा होता है कि ज्ञानविज्ञान की बहुलता भी उसके मन का बोझ बन जाती है, जो उसके बन्धनों को और भी मजबूत करती रहती है। अतिशय पुरुषार्थ भी मनुष्य के अहंकार का कारण बन जाता है। पुरुषार्थ से उपलब्ध यश और वैभव उसके मन में ऐसे मनोरथ पैदा कर देते हैं जो पूर्ण नहीं होते। जिससे उसका मन पराजित अनुभव करने लगता है। अपने अनथक उद्योग से प्राप्त प्रभुता ही उसे निरंकुश बना देती है। अहंकारवश ऐसा प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति अपने को जगत् का स्वामी समझने लगता है।

कल्पना के पंखों पर उड़ने वाले ऋषि भी अनन्त आकाश में उड़ते हुए सच्ची दिशा भूल जाते हैं। केवल ऊंचा उड़ने में ही उन्हें आनन्द आने लगता है। विश्व की वास्तविकताओं को भूलकर वे सत्य का तिरस्कार करने लगते हैं। पृथ्वी-पुत्र होते हुए भी अपने को गगनविहारी बना लेते हैं।

बड़े-बड़े मनीषी ऋषि मुनि भी ऐसे भ्रमजाल में तब तक पड़े रहते हैं जब तक वे अपना अहंभाव छोड़कर प्रभु से मुक्ति की प्रार्थना नहीं करते। प्रभु की शरण में आये बिना किसी को मुक्ति नहीं मिलती। केवल पुरुषार्थ से, ज्ञान से या कल्पना से शक्ति मिलती है। मुक्ति का वरदान तो प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण से ही मिलता है।

अतः जीवन में सत्य ज्ञान प्राप्त करने, सत्कर्म करने और ऊंचे विचारों में विचरण करने का उद्योग करते हुए भी मनुष्य को अपना मस्तक सदैव ईश्वर के चरणों में झुकाये रखना चाहिए। अन्यथा उसके बन्धन कभी नहीं टूटेंगे।

३३

देवता : यज्ञाग्निः ।

एह्यू षु ब्रुवाणि ते अग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभि वर्धास इन्दुभिः ।।

साम पूर्वार्चिक : १०।१।७॥

(**अग्ने**) हे यज्ञाग्नि (**ते सु एहि**) तेरा स्वागत है । (**उ इत्था इतरा गिरः ब्रुवाणि**) मैं इसी प्रकार अभिवादन के मधुर वचनों से तेरी स्तुति करता रहूँगा । (**एभिः इन्दुभिः वर्धासः**) और यज्ञ भावना से पूर्ण हृदय से तुझे प्रदीप्त करता रहूंगा ।

यह संसार एक वृहत् यज्ञ है । यज्ञ की अधिष्ठातृ अग्नि प्रभु की ज्योति है । मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इस विराट् विश्वयज्ञ की अग्नि का स्वागत करे । उसका अभिवादन करे। किन्तु यह अभिवादन तभी सत्य होता है जब हमें उसका ज्ञान हो, उसके अस्तित्व में पूरी आस्था हो ।

यह विश्व एक पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त ज्योतिर्मय प्रभु के अनुशासन में विधिवत् बने विधानों के अनुसार चलने वाला एक महत् यज्ञ है । वह प्रभुसत्ता सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिशालिनी सत्ता है । हम समस्त प्राणी उसके यज्ञ में अपनी योग्यता और बुद्धि के अनुसार योग देते हैं । हमारे यज्ञमय जीवन का लक्ष्य इस महायज्ञ में अपना योग देना है । हम सब

के सहयोग में ही इस विराट् यज्ञ के अनुष्ठान चल रहे हैं।

उस यज्ञाग्नि का हृदय से स्वागत करते हुए हम सबको उस अग्नि को प्रदीप्त करना है। यह तभी सम्भव है जब हम यज्ञ-भावना को समझें। उसे समझने के लिए पहले यज्ञ का भाव समझ लेना चाहिए।

इस भाव का प्रकाशन देवपूजन, संगतिकरण और दान की प्रक्रिया से होता है। यज्ञ शब्द में ये तीनों भाव आते हैं। यज्ञीय अनुष्ठानों का निर्माण इन तीनों भावनाओं के समन्वय से हुआ है।

यज्ञ का मुख्य देवता परमेश्वर है। उसके पूजन से, उसके आशीर्वाद से ही किसी भी हितकारी कार्य का प्रारम्भ होता है। यज्ञ के सच्चे उपासक को ईश्वर का वरदान अवश्य प्राप्त होता है।

हम उस यज्ञाग्नि का आह्वान करें। एक वाणी से नहीं हजार वाणियों से उसका अभिनन्दन करें। केवल वाणी ही नहीं अंग-अंग से, नस-नस से उसका अभिवादन करें। उसे नैवेद्य दें, मधुपर्क दें। उसकी अर्चना के लिए हमारा सारा शरीर सोम सरोवर बन जाये।

हमारे जीवन-यज्ञ की अग्नि ज्वालामुखी बनकर उस विश्व यज्ञ का स्वागत करे। हम वाणी की समस्त विभूति उस विश्व होता को समर्पित करें। मन, वचन, कर्म से हम उसका स्वागत करें। हमारा जीवन विश्वयज्ञ को प्रदीप्त करने के लिए समिधा बन जाये।

३४

देवता : यज्ञाग्निः ।

दूतं वो विश्ववेदसम् हव्यवाहममर्त्यम् ।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥

साम पूर्वाचिक : १।२।२ ॥

मैं (**हव्यवाहम् विश्ववेदसम्**) समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में हवि का संचार करनेवाले (**अमर्त्यम् यजिष्ठम् वः दूतम्**) अमर-अविनाशी यज्ञीय देवदूत की (**गिरा ऋञ्जसे**) अपनी वाणी से वन्दना करता हूँ।

इस मर्त्यलोक में एक आत्मतत्त्व ही ऐसा है जो अजर-अमर है। शेष समस्त संसार मरणशील है। मृत्यु प्रतिक्षण हो रहा है। जीवन भी प्रतिक्षण हो रहा है! मृत्यु और जीवन की इस सदा प्रवाहिणी नदी में एक तत्त्व ऐसा है जो इस प्रवाह को अखण्ड बनाये रखता है।

यह प्रवाह बड़ा आश्चर्यजनक है। पुराने परमाणु स्वय नष्ट होते हैं और नये उनका स्थान लेते जाते हैं। मरण और जन्म की यह प्रक्रिया मनुष्य के एक ही जीवन में कई बार सम्पूर्ण हो लेती है। किन्तु हमें इसकी अनुभूति नहीं होती। हम यही समझते हैं कि हम उसी पुराने शरीर के साथ जी रहे हैं।

विदा होते हुए परमाणु अपने संस्कार पीछे रहने वाले परमाणुओं के पास छोड़ जाते हैं। परमाणु बदलते रहते हैं किन्तु उनके संस्कार संचारित होकर स्थिर रहते हैं।

परमाणुओं के सुरक्षित संस्कार ही स्मृति का रूप ले लेते हैं। उन्हें सुरक्षित रखने का कार्य हमारी हव्यवाहिनी अमर अग्नि करती है। हमारा शरीर इन संस्कारों का पुन्ज ही है। संस्कारों का संचार करने के कारण अग्निदेव को हव्यवाही कहते हैं, देवदूत कहते हैं।

इस यज्ञीय, यजिष्ठ, दिव्यदूत की अलौकिक शक्ति से ही एक दिन दूसरे से, एक वर्ष दूसरे वर्ष से और एक जीवन अनेक जीवनों से सम्बद्ध हुआ है। अनेकों जीवनों का यह सुसम्बद्ध यज्ञ व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है। समुदायों या राष्ट्रों के जीवन भी इसी अग्निदेव की कृपा से यज्ञमय होते हैं। सम्पूर्ण विश्व में यह प्रक्रिया निरन्तर चल रही है।

इसी अमर हव्यवाही देवदूत के कारण हमारा जीवन अखण्डित है। जीवन का प्रवाह अखण्डित सर्वकालिक है। इस अखण्ड यज्ञ में हम सब हवि अर्पित करते हैं। यह समर्पण किसी विवशता से नहीं बल्कि हृदय की समस्त श्रद्धाभावना से किया जाता है। यह भावना जीवन को आनन्दमय बना देती है। कृतज्ञता वश सम्पन्न की गई वन्दना से ही अभिनन्दित देवता और भी अधिक कृपालु बनते हैं।

हमारा कर्तव्य है कि हम अपने जीवन के और सम्पूर्ण विश्व के हव्यवाही देवदूत को पहचानकर उसकी स्तुति करें। बुद्धिपूर्वक किया गया यह स्तवन हमें दिव्यता प्रदान करता है। जीवन को दिव्यानन्द से भर देता है।

३५

देवता : यज्ञाग्निः ।

त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत ।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ।।

साम पूर्वार्चिक : १।१०।६॥

(**अग्ने त्वम् इह वसुं यज**) हे अग्निदेव ! तुम इस संसार में वसु को—धन-वैभव को संगठित करो। (**रुद्रान् यज**) रुद्र का—बल का संयोजन करो (**आदित्यान् यज**) आदित्य का—ब्रह्मतेज का संयोजन करो। (**घृतप्रुषं मनुजातं जनं यज**) घृत समर्पित करने वाले यज्ञीय मानवों को संगठित करो— विश्वयज्ञ में नियुक्त करो।

तीन शक्तियों के आश्रय पर मानव समाज स्थिर है। धन, बल और धर्म। अन्न वसु है, वास स्थान वसु है। वेद ने इसे वसु की संज्ञा दी है। देश में धन के प्रतिनिधि वैश्य कहलाते हैं। शारीरिक बल के प्रतिनिधि क्षत्रिय हैं। वेद ने इन्हें रुद्र कहा है। रुद्र ही राज्य में दण्ड-व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं। आदित्य रूप से ब्रह्मतेज के प्रतिनिधि ब्राह्मण हैं।

इन तीनों के यज्ञमय संगठन से ही राष्ट्र बनता है। तीनों शक्तियों का लक्ष्य राष्ट्र का कल्याण करना है। तीनों एक दूसरे की पोषक शक्तियां हैं। अन्न से बल प्राप्त होता है।

आत्मबल न हो तो शारीरिक बल भी निस्तेज हो जाता है। इसलिए बल प्रयोग करने वाले को आत्मिक बल की भी आवश्यकता पड़ती है। बिना साहस के शौर्य का कोई प्रयोजन नहीं।

ये तीनों मनुजात मानव के ही तीन वर्ग हैं। किसी में वसु का प्राधान्य है, दूसरे में शारीरिक बल की विशेषता है तो तीसरा अदिति का पुत्र आदित्य होकर ब्रह्मतेज का प्रतीक बनता है।

ये तीनों मिलकर विश्वयज्ञ में अपनी आहुति अर्पित करते हैं। अपनी विशेषताओं का विकास करके उनका प्रयोग विश्व-कल्याण के लक्ष्य को ध्यान में रखकर करते हैं। अग्निदेव को पूर्णतः प्रदीप्त होने के लिए तीनों प्रकार के विशिष्ट मानवों का योगदान चाहिए।

ईश्वर ने प्रत्येक मानव को विशिष्ट गुणों का वरदान दिया है। संसार के विराट् यज्ञ में तीनों प्रकार की समिधाएं आवश्यक सामग्री के रूप में प्रस्तुत होती हैं। मानव जीवन विश्व-यज्ञ में समिधा के समान है। इन तीन प्रकार की समिधाओं की आहुति से जो यज्ञाग्नि प्रदीप्त होती है वही अखण्ड ब्रह्माण्ड का संचालन कर रही है। विश्व-विधाता इसी हव्यवाह यज्ञाग्नि से विश्व का नियोजन कर रहे हैं।

प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि वह अपने विशिष्ट गुणों का विकास करके इस हव्य संचारिणी अग्नि को प्रज्वलित करे और उसे प्रदीप्त रखने में जीवन की सार्थकता माने।

३६

देवता : अग्निः ।

प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥

पूर्वार्चिक साम : ६।५।७॥

(**इन्द्र नः नाकस्य शर्मणि तस्थौ**) जैसे बिजली सूर्यमण्डल में स्थित है, परन्तु (**मज्मना पृथिवीं अनुमातरम् वि वावृते**) अपनी शक्ति से उसके निर्माता सूर्य के चारों ओर घुमा रही है । ऐसे ही (**दैवोदासः देवः अग्निः नाकस्य शर्मणि तस्थौ**) यजमान की दिव्य अग्नि आनन्दमय कोश में स्थित है और (**पृथिवीम् अनुमातरम् वि वावृते**) वह अपने आध्यात्मिक प्रभाव से पृथिवी स्थित मानव समाज को अपने प्रकाश केन्द्र के चारों ओर गतिशील कर रहा है ।

अन्तरिक्ष में विद्युत्-शक्ति अपने प्रभाव से पृथिवी तथा अन्य ग्रहों-उपग्रहों को सौरसंस्थान के अन्दर ही सूर्य की परिक्रमा करवाती है । सूर्य भौतिक शक्ति का केन्द्र है ।

जो अन्तरिक्ष में है वही मनुष्य के हृदय में है । मनुष्य के हृदयाकाश में भी आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र-स्थल है । वही दिव्य अग्निदेव का मन्दिर है । इसे आनन्दमय कोष या हिरण्यमय कोश कहते हैं । यही ज्योतिर्मय आत्मा का निवास है ।

अन्तरिक्ष की विद्युत् जैसे पृथिवी को सूर्य के चारों ओर घुमाती है ऐसे ही हमारे अन्तःस्थ आनन्दमय कोश में स्थित ज्योतिर्मय हमारी पार्थिव इन्द्रियों को अपने इर्द-गिर्द घुमाता है।

आनन्दमय कोष में स्थित मानव-आत्मा अपने यज्ञमय जीवन के लक्ष्य पर पहुँच जाता है। संसारी स्वार्थों का परित्याग करके उसे अचल शान्ति प्राप्त हो जाती है। कामनाओं से मुक्ति मिल जाती है। फल की आकांक्षा नहीं रहने से सन्तोष और आनन्द की दिव्य अनुभूति का आभास हो जाता है। उस समय साधक आध्यात्मिक जगत् का सूर्य बन जाता है।

तब वह सम्पूर्ण मानव समाज को उसके निर्माता प्रभु की शरण में ले जाता है। समस्त विश्व में प्रभु-प्रेम की ऐसी अलख जगाता है कि सभी प्राणी उसका अनुगमन करके परमप्रभु के ज्योतिर्मय क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

यज्ञमय जीवन बिताने वाले व्यक्ति के जीवन का यही लक्ष्य है कि वह संसार को भी प्रभु-प्रेम का दीवाना बना दे। प्रभु की अनन्त कृपा से स्वयं आनन्दमय होने तक ही साधक के लक्ष्य की इतिश्री नहीं हो जाती। समस्त विश्व में आनन्द का प्रसार करना और प्राणिमात्र के कल्याण में जीवन अर्पित करना ही साधक के यज्ञमय होने की सफलता है। **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**—इसी भावना का बीज मन्त्र है।

३७

**आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं, नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्।
इडस्पदे नमसा रातहव्यꣳ सपर्यता यजतं पस्त्यानाम्॥**

(साम पूर्वार्चिक : १।७।१)

(**आजुहोत हविषा मर्जयध्वम्**) हवन करो और हवि देकर अपने को पवित्र करो। (**होतारं गृहपतिं नि-दधिध्वम्**) यज्ञाग्नि को गृहपति रूप में स्थापित करो। (**पस्त्यानां यजतम् रातहव्यम्**) गृहाश्रम की आहुति प्राप्त करके उससे रमण करें। अग्निदेव को नमस्कार करके (**इडः पदे सपर्यता**) अन्न, पशु प्रजा आदि की वृद्धि के लिए परिचर्या करो।

गृहस्थ में प्रवेश करते हुए युवक सबसे पूर्व अपने बालपन के निश्छल सरल आनन्दों की आहुति देकर नवीन यज्ञ प्रारम्भ करता है। ब्रह्मचर्याश्रम पवित्र आश्रम है। किन्तु इस पवित्राश्रम में अर्जित वर्चस्व की आहुति देकर गृहाग्नि को और अधिक प्रज्वलित किया जाता है।

इस नवीन गृहाग्नि की अपनी शोभा है। दो युवक हृदय अपने ब्रह्मचर्य की आहुति देकर इस अग्नि की ज्वाला को और भी उद्दीप्त करते हैं। यह अग्नि विलास की अग्नि नहीं। यह बड़ी कठोर साधना की आग है। बड़ी कठिन तपस्या से श्रम से और बलिदान से इस अग्नि को जलाया जाता है। इसकी

जलन को सहा जाता है। दायित्व के भार को उठाया जाता है।

गृह यज्ञ स्वयं एक महायज्ञ है। इसे सम्पन्न करनें के लिए रोज पांच प्रकार के अन्य यज्ञ भी किये जाते हैं। सन्तान होनें के साथ इस गृहाग्नि का यज्ञ और भी विकट हो जाता है। इसमें जीवन की आहुति देनी पड़ती है। माता को अपने सम्पूर्ण तन-मन को समिधा बनाकर इस यज्ञ में आहुति करना होता है।

गृहस्थाश्रम में ही प्रजा की उत्पत्ति, अन्न के उत्पादन और राष्ट्र की रक्षा का यज्ञ किया जाता है। अन्य आश्रमों में व्यक्तिगत विकास का विधान है किन्तु इस आश्रम में समस्त कार्य सामाजिक कल्याण को मुख्यता देते हुए किये जाते हैं।

गृहपति बनकर गृहस्थी मनुष्य अपने सर्वस्व को परमार्थ में स्वाहा कर देता है। उसके सामाजिक कर्तव्यों की शृंखला इतनी लम्बी हो जाती है कि वह अपने स्वार्थों को भूल जाता है। समष्टि साधना के लिए ही वह श्रम करता है।

अपनी सुखसुविधाएं भूलकर ही पिता अपने पुत्र का पालन करता है। वेद का आदेश है कि गृहस्थो! इस आहुति प्रदान द्वारा ही तुम अपने को अलंकृत करो—अपनी शोभा बढ़ाओ। तुम्हारी तपस्या से ही समाज की शोभा बढ़ेगी। तुम्हारे परिवार और तुम्हारे समाज का यश-विस्तार होगा। देश में धन धान्य की उपज बढ़ेगी।

सामाजिक संस्कृति का आधार भी गृहाग्नि का यजन करने वाले गृहपतियों का जीवन ही है। गृहस्थाश्रम सामाजिक कल्याण का केन्द्र-स्थल है।

३८

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो, भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु।

ऋक् : ६।५८।१।

(**अहनी विषुरूपे**) दिवस-रात्रि के दो रूपों की तरह तुम्हारे दो रूप हैं। (**ते अन्यत् शुक्रम्, ते अन्यत् यजतम्**) तुम्हारा एक रूप प्रत्यक्ष है दूसरा यज्ञमय परोक्ष है। (**द्यौरिव असि**) तुम द्युलोक की तरह हो। (**विश्वाः हि मायाः स्वाधावन् अवसि**) इस समय माया रूपी की, हे शक्तिशाली देव तुम रक्षा करते हो। (**पूषन् इह ते भद्रा रातिः अस्तु**) हे सर्वसमर्थ ! तुम्हारी यह मंगलमयी दानशीलता बनी रहे।

हे विश्वाग्नि ! तुम्हारे दो रूप हैं। दो केन्द्र हैं। दिन को शुक्र रात को कृष्ण। सृष्टि और प्रलय, दक्षिणायन-उत्तरायण, अन्धकार-प्रकाश आदि सब के दो रूपों में तुम व्यक्त होते हो। एक रूप प्रत्यक्ष है, दूसरा परोक्ष। एक रूप को हमारी इन्द्रियां ग्रहण कर लेती हैं, दूसरा इन्द्रियातीत रहता है। इस रूप को यज्ञ द्वारा ही जाना जा सकता है। वह यजनीय है।

तुम स्वधावन् हो, स्वयंभू हो, स्वयंप्रकाश हो। जिस रूप में चाहो प्रकट हो जाते हो, जिस रूप को चाहो प्रच्छन्न कर लेते हो। यही तुम्हारी माया है, यही तुम्हारा खेल है। विश्व के

सृजन-विनाश में तुम्हारी ही माया छुपी है। हम व्यर्थ ही सर्वत्र कार्य-कारण की खोज करते हैं और अपनी अल्पमति से सम्बन्धों की कल्पना भी कर लेते हैं। किन्तु थोड़ा और गहन ज्ञान होने पर अनुभव हो जाता है कि तुम्हारे विधि-विधान का ज्ञान सिवाय तुम्हारे कोई नहीं जानता।

केवल तुम्हीं जानते हो कि तुमने सृष्टि का निर्माण क्यों किया। अन्धकार और प्रकाश का सृजन कैसे हुआ। प्रकृति में चेतनता का आभास कैसे हुआ ? इन रहस्यों का उत्तर हम केवल यही दे पाते हैं कि यह विश्वात्मा की माया है। इन रहस्यों का समाधान तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं दे सकता।

हम तो केवल इतना ही जानते हैं कि सभी रूपों में तुम मंगलमय हो। तुम्हारा अन्धकार भी मंगलमय है प्रकाश भी। सृष्टि भी मंगलमय है प्रलय भी। तुम प्रलय करते हो नवीन सृष्टि के लिए, विलोप करते हो, पुनर्निमाण के लिये। इस कालचक्र के दोनों पहिये मंगलमय-कार्य के लिए ही घूमते हैं।

हम यजमान तुम्हारे इन दोनों रूपों का पूजन करते हैं। दोनों रूपों में तुम विश्व की रक्षा करते हो, विश्व का पोषण करते हो।

३९

देवता : पुरुषः ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।

ऋक् : १०।९०।१।।

(**पुरुषः सहस्रशीर्षा**) वह परम पुरुष सहस्र शिरवाला (**सहस्राक्षः**) सहस्र आँखों और (**सहस्रपात्**) सहस्र पैरों वाला है। (**स भूमिं विश्वतो वृत्वा**) वह समस्त भूमण्डल की परिक्रमा के बाद (**दशाङ्गुलम् अति अतिष्ठत्**) दशों दिशाओं का अतिक्रमण करके अवस्थित है।

परमप्रभु की अनन्तता का द्योतक यह मन्त्र उसकी अनन्त व्यापकता का ज्ञान कराता है। सहस्र शब्द का प्रयोग अनन्त के अर्थ में हुआ है। उस परम पुरुष के अनन्त शीर्ष स्थल हैं। अन्तरिक्ष को प्रभु का शीर्षस्थल कहा गया है। पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों के लिए जो अन्तरिक्ष है वह अन्य ग्रहों के अन्तरिक्ष से भिन्न है। ग्रहों की संख्या भी अभी तक अज्ञात है।

हमारे सौरमण्डल का विश्व ही समस्त विश्व नहीं है। ज्ञान-विज्ञान की नयी खोजों के साथ नये-नये ग्रहों और तारों का ज्ञान मिलता जाता है। कुछ वर्ष पूर्व अन्तरिक्ष में एक तारे के विस्फोट के निरीक्षण से इटली की वेधशाला के एक संचा-

लक ने कहा था कि यह तारा हमारी पृथ्वी से ४ करोड़ ज्योतिर्वर्षों की दूरीपर है। उसका यह भी मत था कि यह तारा हमारे सूर्य से भी एक लाख गुना अधिक प्रकाशमान था। परम पुरुष के सहस्रों शीर्ष और सहस्रों ज्ञान-केन्द्र हैं। जहां-जहां उसकी ज्योति है वहां-वहां उसका ज्ञान-केन्द्र भी अवस्थित है।

प्रत्येक मानव मस्तिष्क में भी उसके सहस्रों ज्ञान-केन्द्र हैं। मनुष्य के एक मस्तिष्क में भी विविध प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञान-प्रक्षेपण के लिए अलग अलग सूक्ष्म ज्ञान-केन्द्र विद्यमान हैं। प्रत्येक प्राणी में अलग ज्ञान-केन्द्रों का सम्बन्ध भी विश्वव्याप्त ज्ञान-केन्द्र से जुड़ा हुआ है।

ज्ञान और ज्योति के अनन्त केन्द्रों वाला वह परमेश्वर इस भूमि पर ही नहीं अन्य भूमियों पर भी अपनी ज्ञान-ज्योति के विस्तार के साथ अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक रहेगा। प्रकृति का रूप बदलता रहेगा। कभी वह साम्यावस्था से विभिन्न नाम रूपों की स्थिति में व्यक्त होगी और कभी पुनः अव्यक्त हो जायेगी। जीव भी अपने कर्म-भोगों के अनुसार जन्म-मृत्यु के क्रम में बंधे व नाम-रूप भेद से बदलते रहेंगे किन्तु परमेश्वर सदा अरूप और सत्य रहेगा। वह स्वयं भी नित्य है और उसकी चिन्मय आनन्दमय अवस्थिति भी नित्य है।

अल्पज्ञ मनुष्य के चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु भी उसकी अनन्तता का पूर्णतः ज्ञान नहीं पा सकते। वह समस्त विश्व के बाह्याभ्यन्तर को व्याप्त करके अनन्तकाल से प्रतिष्ठित है।

४०

देवता : पुरुषः ।

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

ऋक् : १०।९०।३।

(**अस्य महिमा एतावान्**) इस पुरुष की महिमा का विस्तार इतना महान् है किन्तु (**पूरुषः अतो च ज्यायान्**) पुरुष का स्व व्यक्तित्व इस वर्णित और ज्ञात-अज्ञात से भी बहुत अधिक है (**विश्वा भूतानि अस्य पादः**) समस्त भूमण्डल और प्राणिजगत् उसके एक भाग—एक चरण में समा जाते हैं। (**त्रिपात् अस्य अमृतं दिवि**) इसके शेष तीन भाग अमृतमय देवलोकों में हैं।

सहस्रों शिर, सहस्रों चक्षु आदि अनन्त सूचक शब्दों से वर्णित व्यक्तित्व तक ही उसकी सीमा नहीं है। इस महिमा से भी वह महान् है उसका वर्णन शब्दों में हो ही नहीं सकता।

समस्त विश्व के कोटि कोटि लोक-लोकान्तर उस विराट् ब्रह्म की लीला के केवल व्यक्तरूप को प्रकट करते हैं। वह रूप भी विश्व पुरुष के एक चरण में ही समा जाता है। उसका तीन चौथाई भाग ऐसे लोकों में छुपा हुआ है जहाँ मनुष्य के ज्ञान चक्षु भी अभी तक नहीं पहुँच पाये।

वह पुरुष सभी विश्वरूपों के बाहर भी है और सबके अन्तर

में भी व्याप्त है। सदा गतिशील काल भी उसके एक चौथाई को ही व्यक्त करता है। परमपुरुष के चार अंश काल की परिधि को भी अतिक्रमण कर जाता है। काल के अनन्त वेग से भी उसका माप नहीं हो सकता। वह प्रत्येक क्षण में व्याप्त है और प्रत्येक क्षण उस अनन्त में स्थिर है। वह अणु से भी सूक्ष्म और ब्रह्माण्ड से भी अधिक विशाल है। उसकी कोई सीमा-रेखा नहीं।

वही आदित्य की ज्योति में है और वही गहन अन्धकार की गहनता में है। न उसका आदि है, न मध्य है और न अन्त। विविध रूपों से सब उस एक अरूप की अर्चना करते हैं। पृथ्वी के कण-कण में भी वही है और गगन के कोटि-कोटि तारों की झिलमिल में भी उसका ही प्रकाश है।

सर्वान्तर्यामी होते हुए भी वह विश्व के सब बाह्य धामों और ऐसे अमृतमय, शाश्वत ज्योति-सम्पन्न अलौकिक धामों में भी है जो अभी तक व्यक्त नहीं हुए। जन्म, मृत्यु, आदि द्वन्द्वों में व्यक्त यह जगत् परम पुरुष का उच्छिष्ट भाग है।

उसके अमृतमय लोक में शाश्वत आनन्द का संचार रहता है। वह द्वन्द्वातीत है। वह नामरूप में व्यक्त नहीं होता। वह केवल आतमरूप है—उसकी अनुभूति केवल ऐसे पवित्रात्मा ही कर सकते हैं जिनका पवित्र आत्मा भगवान् के अत्यन्त समीप पहुँच जाता है—जो भोगमय जगत् से मुक्त होकर परमात्मा के गुरुत्वाकर्षण में पहुंच जाते हैं।

४१

देवता : आत्मा ।

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ती यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥

अथर्व० : १०।८।३३

(**वाचः अपूर्वेण इषिताः**) वाणी का स्रोत अपूर्व से प्रेरित है (**ताः यथायथं वदन्तीः**) वह वाणी यथातथा का ज्ञान देती है (**वदन्तीः यत्र गच्छन्ति**) वाणी से सब कहकर जहां चली जाती है । (**तत् महत् ब्राह्मणं आहुः**) वही महत् ब्रह्म का धाम है।

वाणी का प्रथम उदय जिस स्रोत से होता है उसी में वाणी का विलय होता है, वही ब्रह्मधाम है। अन्तरिक्ष में जब अणु-परमाणुओं का संचरण होता है तो स्वर का उदय होता है। किन्हीं भी दो पदार्थों के सम्मिलन या विस्फोट से स्वर का प्रारम्भ होता है । अनन्त ब्रह्माण्ड में प्रतिक्षण विस्फोट होते रहते हैं—निर्माण और विनाश की लीला चलती रहती है। स्वरों की भी उदय-अस्त क्रिया अविराम होती रहती है।

जो भी निर्माण होता है वह नया होता है । इसलिए स्वर भी नये या अपूर्व होते हैं । जो स्वर एक क्षण में जन्म लेता है वह दूसरे क्षण विलोप होकर अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाता है। उस सूक्ष्म रूप से व्याप्त स्वर को हम रेडियो द्वारा फिर से

ग्रहण करते हैं। विलुप्त होनेवाले स्वर भी मरते नहीं—किन्तु उनका विलय अन्तरिक्ष की अन्य तरंगों में हो जाता है। अपूर्व अदृश्य स्रोत से उदित होकर वही वाणी जगत् के ज्ञान-विज्ञान का वहन करती है। वाणी द्वारा ही ज्ञान-संचरण होता है। एक ही स्वर असंख्य स्वर-तरंगों में विभक्त होकर सत्य-ज्ञान का विस्तार करता है। सभी ज्ञान केन्द्रों में पहुंचकर वह ज्ञान महार्णव बन जाता है, स्वरधारा ज्ञानधारा का रूप ग्रहण कर लेती है।

वही स्वर जब मौन हो जाते हैं तो भी उनमें ज्ञान देने की शक्ति बनी रहती है। अन्तरिक्ष की ऊंचाई से वे पृथिवी पर अवतरित होते हैं। स्वर सौरभ से पृथिवी का कण-कण सुरभित हो जाता है।

प्रभु के प्रेममय स्वर वंशी के स्वर बनकर समस्त भूमण्डल के आकाश को आच्छादित कर लेते हैं। उनकी ही प्रतिध्वनि से मानव हृदय में प्रेम, करुणा आदि दिव्य भावनाओं के आवेशों का उदय होता है।

और अन्त में वही स्वर अपने उद्गम स्थान स्वर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इस स्वरजाल में सारा संसार बंधा हुआ है। प्रभु की मौन वाणी को सुनने वाले साधक इन विलुप्त हुए, ब्रह्मलीन हुए स्वरों का भी श्रवण करते हैं। उनका हृदय सदा स्वरब्रह्म के मधुर संगीत का आनन्द लेता है। नादमय ब्रह्म की वाणी से उनका हृदय सदा आप्लावित रहता है।

४२

देवता : वरुणः ।

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं, प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव, प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥

ऋक् : ७।८८।३।

(**यत् वरुणः च नावं आरुहाव**) जब हम दोनों वरुणदेव की नाव पर एक साथ बैठे थे। और (**समुद्रं मध्यं प्र यत् ईरयाव**) समुद्र के मध्य की लहरों पर झूल रहे थे। (**यत् अपां स्नुभिश्चराव**) और अपार जलराशि के बीच विचरण कर रहे थे। (**एकम् प्रेङ्ख प्र ईङ्खयावहै**) दोनों एक मंगलमय लक्ष्य को देखते हुए आगे बढ़ रहे थे।

वेदवाणी इस मन्त्र द्वारा मनुष्य के सामने अनन्त समय पूर्व के उस काल का स्मरण दिलाती है जब जन्म मरण के बन्धन से मुक्त जीव मोक्षधाम से पुनः जीवयोनि ग्रहण करता है।

परमेश्वर का परम सखा मानव आत्मा वरुण रूप में प्रकट प्रकृति के महासिन्धु में परमात्मा के सहयात्री रूप में एक ही नाव पर आता है। सृष्टि के आदिकाल में पृथ्वी का अधिकांश भाग जलमग्न था। संसार रूपी सागर में उस समय जीव भगवान् की नाव पर बैठकर ही सागर के बीच अपना अस्तित्व बनाये रख सकता था।

आज भी जीवन्मुक्त सन्तों की यही गौरवान्वित आनन्दमयी स्थिति है। जिस भवसागर में भोगासक्त मनुष्य डूब जाते हैं उसकी ही उत्ताल तरंगों में झूलने का आनन्द लेते हैं सन्तजन।

जो मनुष्य जगत् के मोहजाल से विरक्त होकर प्रभु से अनुराग करते हैं वे प्रभु की वरुण-नाव पर सवार होकर लहरों का आनन्द लेते हैं। समुद्र के ज्वारभाटे में उठती गगनचुम्बी लहरें भी उनके लिए झूला बन जाती हैं। उनकी प्रभु-आश्रित नाव जीवन की ऊंची-नीची लहरों पर सदा सुरक्षित तैरती रहती है।

प्रकृति के विस्तीर्ण आंगन में प्रतिक्षण बदलने वाले दृश्यों के मध्य उन्हें अपने परम सखा ईश्वर का ही भव्य रूप दिखलाई देता है। उदय होते आदित्य में भी प्रभु की आभा के दर्शन होते हैं और अस्ताचलगामी सूर्य में भी वही रूप दिखलाई देता है।

उषाकाल की किरणों के स्पर्श से भी उनके हृदय की वीणा झंकृत हो जाती है और मध्याह्न के प्रखर सूर्य की किरणें भी उनके हृदय में जीवन और जागृति का सन्देश देती हैं। वरुण की नाव पर बैठे जीव के हृदय में अखण्ड शान्ति का राज्य रहता है। प्रभु के दिव्य-गुणों का अभ्युदय उसके व्यवहार में भी विकसित हो जाता है।

अपनी मंगलमयी भावनाओं के साथ वह जीवन के सुख-दुःख में समदृष्टि रखते हुए आजीवन आनन्दमय रहता है।

४३

देवता : अध्यात्मम् ।

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
गृहं कृत्वा मर्त्यं पुरुषमाविशन् ।। पाप्मानो नाम देवताः ।।
स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत् ।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनुप्राविशन् ।

अथर्व० : ११।८।१८-२० ।।

(**यदा त्वष्टा पिता व्यतृणत्**) जब विधाता प्रजापति ने सृष्टि संयोजन किया (**त्वष्टुः उत्तरः**) संयोजन के उत्तरकाल में (**मर्त्यं गृहं कृत्वा पाप्मानो नाम देवताः पुरुषमाविशन्**) मानव शरीर को निवास बनाकर पापमय प्रवृत्तियाँ भी देवरूप धरकर पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हो गईं । उनमें (**स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं**) चौर्य दुराचरण, हिंसा आदि प्रमुख हैं। साथ ही (**बलं, क्षत्रम्, ओजश्च शरीमनुप्राविशन्**) बल, शौर्य, ओज आदि गुण भी शरीर में प्रविष्ट हुए ।

जगत्पिता ने जब सृष्टितत्त्वों का संयोजन किया तो मानव स्वभाव में द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति भी सहज ही आ गई । दैवी भावनाओं के साथ आसुरी भावनाएं भी मनुष्य स्वभाव में रहती हैं । संयमी व्यक्ति ज्ञानपूर्ण वैराग्य एवं अभ्यास से अपनी चंचल प्रवृत्तियों को संयम में रखता है—किन्तु संयम की लगाम में

जरा भी ढील ग्राने पर स्वाभाविक भोगवृत्ति जाग उठती है। ग्रतः संयम के प्रति हर पल सावधान रहना ग्रावश्यक हो जाता है। मन बड़ा चंचल होता है। वह भली-बुरी दोनों प्रवृत्तियों का रस लेता है और इन्द्रियों को ग्रपने पीछे लगा लेता है।

इसीलिए मनुष्य धर्मपूर्ण व्यवहार के ग्रच्छे परिणामों को जानते हुए भी उधर प्रवृत्त नहीं होता एवं ग्रधर्म के दुष्परिणामों से परिचय होते हुए भी क्षणिक तृप्ति के लिए स्वार्थ वश ग्रधर्म कर डालता है।

हर इन्सान में पाप-पुण्य को विवेक द्वारा समझने की बुद्धि प्रायः एक समान है किन्तु इस विवेक का लाभ बहुत कम लोग उठाते हैं। उनमें धैर्य नहीं होता, सहिष्णुता का अभाव होता है। ग्रात्मविश्वास की कमी होती है। वे ग्रपने ही मन की दुर्भावनाग्रों पर विजय नहीं पा सकते। इच्छा होते हुए भी वे सच्ची राह पर चलने का संकल्प नहीं करते।

ग्रतः मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह ग्रपने सद्गुणों—सत्य, यश, जय तथा ग्रात्मा का विस्तार पाने की स्वाभाविक मंगलमयी कामनाग्रों को दृढ़ बनाये ग्रौर दुर्गुणों के प्रति कठोर हृदय से नियन्त्रण करें। उनके प्रति उठती रुचि को दिलचस्पी पैदा होते ही ग्रात्मिक शक्ति से उनका संयम करे।

कभी ग्रसावधान न रहे ग्रौर सद्गुणों के ग्रभिवादन के लिए तैयार रहे।

४४

देवता : इन्द्रः ।

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनम्
न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु,
न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ।।

ऋक् : १०।४८।५॥

(**अहम् इन्द्रः इत् धनम् न पराजिग्ये**) मैं समर्थ हूँ, समृद्ध हूँ कभी पराजित नहीं होता । (**कदाचन मृत्यवे न अवतस्थे**) न मैं कभी मृत्यु के प्रभाव क्षेत्र में आता हूँ । (**वसु सोमम् इत् सुन्वन्तः याचता**) सभी देवता सुख सौभाग्य के लिए मेरी शरण आते हैं। (**न मे पूरवः सख्येः न रिषाथन**) अपने सामर्थ्य का ज्ञान होने के बाद मेरी कभी क्षति नहीं होती ।

मैं इन्द्र हूँ, समर्थ हूँ—यह गर्वोक्ति नहीं, बल्कि दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वास की भावना है । अहंकार और आत्मविश्वास में मूलभूत अन्तर है । दोनों के बीच एक सूक्ष्म रेखा है किन्तु वह रेखा शब्दों की नहीं बल्कि हृदय की है ।

अहंकार मिथ्या होता है—और अमंगल भावना का परिचायक है । आत्मविश्वास सत्य के बहुत निकट की भावना है। जो यह जानता है कि वह क्या है, वही यह निर्णय भी कर

सकता है कि उसके कर्त्तव्य क्या हैं। आत्मविश्वास प्रेरित व्यक्ति अपने लक्ष्य की आवृत्ति गर्व दर्शाने के लिए नहीं करता, अपितु इसलिए करता है कि उसके सामने प्रत्येक क्षण उस लक्ष्य का स्पष्टतर चित्र प्रकट होता रहे।

अपने आत्मविश्वास की पुनः पुनरावृत्ति द्वारा वह अपने अभिलषित संकल्प को और भी पुष्ट करता है और धैर्य के साथ अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर गतिशील रहने की अन्तः प्रेरणा प्राप्त करता रहता है।

इस पुनरावृत्ति को महत्त्व की आकांक्षा का सूचक कहा जा सकता है। अपने यश के प्रति अभिरुचि रखना स्वस्थ मनुष्य की सद्वृत्तियों का लक्षण है। इस मनोवृत्ति की उपेक्षा नहीं चाहिए। जिस मनुष्य में महत्त्व पाने की अभिलाषा नहीं रहती जो ऊर्ध्वगामी नहीं रहता वह अधोगामी हो जाता है। उसके हीन-भावना ग्रस्त होने का भय रहता है। अपनी नजरों में गिरा व्यक्ति सब की नजरों से गिर जाता है। ऐसा निराश हतोत्साह मनुष्य समाज द्वारा भी उपेक्षित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के आत्मनिन्दक होने का भी डर रहता है।

अतः हमें 'मैं इन्द्र हूं'—की गौरवमयी भावना को हृदय में सदा जाग्रत् रखना चाहिए। तभी हम संसार की आसुरी भावनाओं एवं मृत्यु पर विजय-लाभ कर सकेंगे। मृत्यु के प्रभाव-क्षेत्र का प्रारम्भ अकर्मण्यता से होता है। कर्महीन व्यक्ति श्वास लेते हुए भी मृत्यु के प्रभाव में पहुंच जाता है।

ऐसे दृढ़संकल्पी, पुरुषार्थी व्यक्तियों को ही सौभाग्य-श्री जयमाल पहनाती है। सभी देवशक्तियां भी ऐसे ही अध्यवसायी व्यक्ति के उत्कर्ष में सहायक होती हैं। अपनी शक्ति का ज्ञान ही मनुष्य को सशक्त बनाता है। उसकी अन्तःशक्तियों को जाग्रत् करता है।

४५

देवता : आत्मा ।

> अयुतोऽहमयुतो म आत्मा,
> अयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रम् ।
> अयुतो मे प्राणोऽयुतो मे अपानो,
> अयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ।।

अथर्व : १९।५१।१ ॥

(**अहम् अयुतः मे आत्मा अयुतः**) मैं अखण्ड हूँ, मेरा आत्मा अखण्ड है। (**मे चक्षुः अयुतम्, मे श्रोत्रम् अयुतम्**) मेरी दृष्टि अखण्ड है, श्रवणशक्ति अखण्ड है। (**मे प्राणो, अपानो, व्यानो अयुतो**) मेरे प्राण, अपान, व्यान अखण्ड हैं। (**अहं सर्वः अयुतः**) मैं सम्पूर्ण रूप से अखण्ड हूँ।

जीवन में द्वन्द्वात्मक संघर्ष तो प्रतिक्षण विद्यमान रहता है किन्तु विवेकशील मनुष्य इन संघर्षों से खण्डित नहीं होते, वे अखण्ड रहते हैं। जीवन के प्रवाह के साथ ही मृत्यु का प्रवाह भी चलता रहता है। सुख के साथ दुःख की छाया भी अनुगामिनी रहती है। किन्तु इन दोनों परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच अखण्डित रहकर जीवन के मार्ग पर स्वस्थ भाव से चलते रहनेवाला व्यक्ति ही लक्ष्य तक पहुंच पाता है।

सुख की अभिलाषा सब को है। दुःख से बचने का उद्योग

सभी करते हैं। लेकिन न तो कोई केवल सुख का स्वामी बनता है और न पूर्णतः दुःख से अछूता रह सकता है।

कर्मभोग में सुख के साथ दुःख भी आयेगा ही। जो शान्ति से, धैर्य से उसे झेल लेगा वही अगले क्षण सुख का अधिकारी बनता है। अन्यथा दुःख का ज्वार मनुष्य को खण्डित कर देगा। सुख-दुःख दोनों में समभाव रखते हुए कर्म करते रहना ही कर्म-योग का रहस्य है।

हम प्रायः दुःखों का अतिरंजित चित्रण करते हैं। ऐसे चित्रण से हम सबकी सहानुभूति लेना चाहते हैं। किन्तु परिणाम इससे विपरीत होता है। दुःख में कोई साथ नहीं देता। धैर्यपूर्वक झेला हुआ दुःख हमें और भी बलवान् बना देता है। हम विजयी हो जाते हैं। दुःख, निराशा, क्षणिक पराजय से अभिभूत न होकर आपत्ति-विपत्ति में समभाव से चलते रहने वाले व्यक्ति ही संसार में यशस्वी बनते हैं।

अखण्डित रहने की यह स्थिति केवल आत्मा को ही स्वस्थ एवं सबल नहीं बनाती, अपितु आंख, कान आदि सभी इन्द्रियों को भी तेजस्वी बनाती है। दुःखों की चपेट में आकर अधीर हुआ व्यक्ति केवल मनोव्यथा से पीड़ित ही नहीं होता, शरीर से भी रोगी हो जाता है। मन में स्वस्थता रहे तो शरीर के रोग भी शीघ्र दूर हो जाते हैं।

मानसिक निर्बलता के पहले लक्षण 'खण्डित मनोवस्था' से प्रारम्भ होते हैं। खण्डित व्यक्ति के जीवन में समरसता नहीं रहती। उसके व्यवहार में गहरी विषमता आ जाती है। अतः हमारे मन में यह धारणा सदैव दृढ़ रहनी चाहिए—मैं अखण्डित हूँ, अजेय हूँ।

४६

देवता : कः (प्रजापतिः) ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋक् : १०।१२१।४।

(**यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः आहुः**) जिसकी महिमा हिमाच्छादित गिरिशिखर कर रहे हैं। (**यस्य महित्वा समुद्रं रसया सह आहुः**) जिसकी महिमा समुद्र अपने उद्घोष के साथ कह रहे हैं। (**इमे प्रदिशः यस्य बाहू ये**) दिशाएँ जिसकी भुजाएं हैं, (**कस्मै देवाय हविषा विधेम**) उस देवता की ही हम पूजा करते हैं, उसे हविष देते हैं।

प्रकृति अपने सौन्दर्य का अमित कोष मुक्तहस्त से लुटाती है। हम ही अपने द्वार बन्द रखते हैं, इसलिए उस खजाने को नहीं पा सकते। प्रकृति के इस अनुराग भरे आह्वान को हम समझ सकें तो हमें प्रत्येक वृक्ष, शाखा, फूल और पत्ते-पत्ते से एक नाम की पुकार सुनाई देगी।

हिम से आच्छादित पर्वत-शिखर जब उषा की अरुणिमा से रंग जाते हैं और पूर्व दिशा के मेघखण्ड इन शिखरों को चूमकर कुछ कहते हैं तब यदि हम अपने अन्तःकरण से उठते स्वरों को पर्वत-शिखरों से उठते स्वरों से मिला दें तो हमें यही प्रतीत

होगा कि जो संगीत हमारे अन्तर से उठता है उसी की प्रतिध्वनि हिम-शिखरों से उठती है।

अथाह सागर की लहरों पर भी हमें उन्हीं स्वरों का संगीत सुनाई देगा। ओस से स्नान करती कलिकाओं के हास्य में भी उन्हीं स्वरों का आभास मिलेगा।

वृक्षों की छोटी-छोटी शाखाओं के अग्रभाग पर फूटती नन्हीं-नन्हीं कोपलों के स्पर्श से भी हमें उस एक देवता के अनुराग का संकेत मिलेगा जिसकी स्तुति के स्वर हिमशिखरों से सुनाई दिये थे और जिसके जयघोष की गूंज सागर की उत्ताल तरंगों से उठकर विशाल गगन में फैल गई थी।

विराट् विश्व के प्रांगण में जब हम आह्लाद भरे हृदय से आते हैं तो हमें यही आभास होता है कि दिशा दिशाओं के अनन्त विस्तार से उठती परम करुणागार प्रभु की बाहें हमें अभय का आशीर्वाद दे रही हैं। चारों ओर से प्राणवाही पवन अपने शीतल स्पर्श से हमें प्रभु के प्रेम का सन्देश दे रहा है। सारा भूमण्डल परमेश्वर की अनन्त अमृतमयी भुजाओं में आविष्ट है।

उसकी ज्योति का अंश लेकर ही सविता सूर्य संसार पर प्राण और प्रकाश की वर्षा करता है और उसके संकेत पर ही सागरों से जल कलश भरकर मेघमाला प्यासी धरती की प्यास बुझाती है।

आओ प्रकृति माता के स्वर में स्वर मिलाकर परमपिता का वन्दन करें।

४७

देवता : अभयता ।

> **अभयं नः करत्यन्तरिक्षं, अभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे।**
> **अभयं पश्चादभयं पुरस्तात्**
> **उत्तरादधरादभयं नो अस्तु ।।**
> **अभयं मित्रादभयममित्रात्**
> **अभयं ज्ञातादभयं पुरोक्षात् ।**
> **अभयं नक्तमभयं दिवा नः**
> **सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।।**

अथर्व : २१।१५।५-६।

(**अन्तरिक्षं नः अभयं करति, द्यावापृथिवी उभे इमे अभयं**) अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवीलोक सब ओर से हमें अभय मिले। आगे पीछे किसी भी दिशा से हमें भय न लगे। (**नक्तं नः अभयं, दिवा नः अभयं भवन्तु**) दिन और रात के सब क्षण हमारे भयरहित गुजरें। (**सर्वा आशा मित्रं भवन्तु**) सभी दिशाओं से अभय मिले।

अल्पज्ञानी मनुष्य का यह सबसे बड़ा अभिशाप है कि वह प्रत्येक वस्तु से भयभीत होता है। उसे प्रत्येक वस्तु अपने से बड़ी दिखलाई देती है और प्रत्येक गतिशील शक्ति से प्रताड़ित होने का डर लगा रहता है। उसे यह ज्ञान नहीं होता कि परम दयालु

परमेश्वर ने सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु आदि को सृष्टि के सुचारु संचालन के लिए नियुक्त किया है न कि विनाश के लिये। वह तो इन भौतिक शक्तियों के विराट् रूप और इनकी अनन्त शक्ति देखकर ही भयभीत हो जाता है। और इनसे अपनी रक्षा के लिए सैकड़ों उपाय करता है।

ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है ; जिसकी सहायता से वह इन देवशक्तियों का समुचित उपयोग करके सुखी हो सकता है। किन्तु उपयोग से पहले उसे इन पंचभूतों से भयभीत होने की वृत्ति का त्याग करना होगा।

अचेतन देवशक्तियों से निर्भय होने के साथ उसे अपने साथी—मित्र-अमित्र—सब से निर्भय होकर व्यवहार करने का अभ्यास करना होगा। साधारण व्यवहार में हम अपने मित्र से भी डरते हैं। हमारे मन में मित्र कहे जाने वाले व्यक्ति के प्रति निःस्वार्थ प्रेम नहीं होता। उसकी उन्नति में हमें प्रसन्नता होने के स्थान पर ईर्ष्या हो जाती है। ईर्ष्या का भाव मित्रों में दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। इस भाव का स्पर्श होते ही हम परस्पर भयभीत होना शुरू कर देते हैं।

इसलिए भगवान् से 'अभय' का वरदान चाहते हुए हमें स्वयं सबको 'अभय-दान' देना होगा। अपने मित्र-अमित्र, प्रत्यक्ष-परोक्ष, सर्वतः सब ओर से अभय तभी मिलेगा यदि हम सबसे द्वेष छोड़ दें। हम दूसरों पर प्रहार करते रहें, दूसरों से ईर्ष्या करते रहें और दूसरों के प्रहार से रक्षा पाने के लिए ईश्वर से 'अभय' की, रक्षा की प्रार्थना करते रहें—यह स्थिति न्यायकारी ईश्वर को कभी मान्य न होगी।

हमारा 'अभय' मांगने का अधिकार तभी बनता है अगर हम पहले सबको मित्र बनाकर सबके लिए कल्याण-कामना करें।

४८

देवता : रुद्रः ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

ऋक् : ७।५९।१२ ॥

(**वयं सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् त्र्यम्बकं यजामहे**) हम त्रिलोक, त्रिकाल की माँ का अर्चन करते हैं। वही हमें डाल पर पके बेल की तरह, स्वयं शाख से मुक्त होने वाले फल की तरह मोक्ष का अमृतदान नहीं कर सकता क्या ?

जो प्राण-शक्ति समस्त जगत् में व्याप्त है वह अविनाशी है। जीव की चैतन्यता विनश्वर देह के टूटने के बाद भी निरन्तर बनी रहती है। जो आज है वह कल भी था और आने वाले कल भी रहेगा—यह विश्वास ही मनुष्य को अमरता का ज्ञान देता है।

यह ज्ञान ही मनुष्य का सबसे सुखद ज्ञान है। हमारा जीवन मृत्यु—देहत्याग—के बाद भी समाप्त नहीं होता, यह जान लेने के बाद मृत्यु का भय नहीं रहता। मृत्यु स्वयं में क्रूर या निर्मम नहीं है। मृत्यु तो केवल एक द्वार है जिससे आत्मा जराशीर्ण शरीर छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इसी से ज्ञानी लोग मृत्यु का स्वागत करते हैं।

किन्तु मृत्यु की प्राप्ति किसी लक्ष्य की उपलब्धि भी नहीं है। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य तो विकास की ऐसी स्थिति पर पहुँचना है जहाँ जन्म-मृत्यु, दोनों से मुक्ति मिल जाये। जहां कर्मभोग समाप्त हो जाये और आत्मा दोनों के बन्धन में न पड़ कर मुक्तावस्था में परम आनन्द की अनुभूति करे।

इस अवस्था की प्राप्ति तभी सम्भव है यदि मनुष्य अपने जीवन में नये बन्धनों की सृष्टि न करके केवल पिछले जन्मों के भोग-भोगता हुआ निष्काम बना रहे। उसके कर्मभोग इस जीवन में ही समाप्त हो जायें। इस समाप्ति का ही दूसरा नाम 'कर्मविपाक' है।

मनुष्य के कर्म जब पक जाते हैं, अर्थात् स्वाभाविक कर्म करते हुए जब उसका पूर्ण विकास हो जाता है, तब वह पके हुए फल की तरह अपनी बेल से टूटकर स्वयं धरती पर गिर जाता है और बेल की शृंखला से विमुक्त हो जाता है।

हम जब इस स्थिति को प्राप्त करने की प्रार्थना परम प्रभु से करते हैं तब यह संकल्प भी करते हैं कि हमारे आयोजनों का लक्ष्य लोकैषणा या वित्तैषणा नहीं बल्कि हित कामना है।

उस समय हमारा जीवन बेल पर लगकर स्वयं पके उस फल के समान होता है जो सूरज की धूप से पक जाता है, जिसमें पुष्टिकर गुणों का समावेश हो जाता है और पृथिवी की गन्ध समा जाती है। ऐसा जीवन सुरभिमय और समाज को पुष्ट करने वाला जीवन ही अमरत्व का अधिकारी होता है। इन गुणों से युक्त व्यक्ति मृत्यु से पहले ही 'जीवन मुक्त' की दशा में जीवित होता है। अमरता पाने के लिए ऐसे कर्मयोगी को मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

देवता : वरुणः ।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।
मृला सुक्षत्र मृलय ।।

ऋक् : ७।८९।४ ॥

(**अपां मध्ये तस्थिवांसं जरितारं**) अगाध जल में खड़े भक्तजनों को भी (**तृष्णा विदत्**) प्यास का अनुभव होता है। (**सुक्षत्र ! मृला मृलय**) हे रक्षक परमेश्वर ! तू अपने सुख से उन्हें सुखी कर ।

ईश्वर ने प्रत्येक प्राणी को जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रमशील बनाया है, साधन दिये हैं और बुद्धि दी है कि वह अपना आहार जुटा सके, सरदी-गरमी से अपनी रक्षा कर सके एवं सुख सुविधा की व्यवस्था करे ।

किन्तु संसार के कुछ लोग बौद्धिक चतुराई का उपयोग करके अपनी आवश्यकताएँ पूरी होने के बाद दूसरे के श्रम का लाभ उठाकर अपने लिए दूसरों से कहीं अधिक धन-दौलत जमा कर लेते हैं और उस धन के बल पर दूसरे कम चतुर लोगों का यथेच्छ शोषण करते हैं ।

यह तो ठीक है कि ईश्वर ने सबको समान सामर्थ्य नहीं दिया, इसलिए सबका एक समान स्तर पर जीने का स्वप्न

पूरा नहीं हो सकता। लेकिन सामर्थ्यवान एक वर्ग संचित पूंजी के बल पर या चतुराई से दूसरे वर्ग को सुख से जीने का अधिकार भी न दे—तो यह सामाजिक अन्याय ही नहीं अमानवीय भी है। ईश्वर को यह कभी अभीष्ट नहीं हो सकता। कोई भी न्यायप्रिय व्यक्ति इस असमानता के प्रति विद्रोह कर सकता है

जो चतुर मनुष्य या मनुष्य वर्ग ऐसे अन्याय—अधर्म पूर्ण कार्य करता है वह स्वयं भी सुखी नहीं हो सकता। धन-दौलत से विलासिता खरीदी जा सकती है—सुख नहीं खरीदा जा सकता।

ऐसे धन-वैभव के अथाह सागर में बैठा आदमी उसी तरह सुख की प्यास से प्यासा रहेगा जैसे खारे जल-सागर में बहता आदमी मीठे जल के अभाव में एक बूंद पाने के लिए तरस जाता है—तृषित रहता है।

भोगों से तृष्णा की ज्वाला नहीं मिटती। भोग तो इस आग को और भी भड़काते हैं। धन-दौलत के पीछे पागल आदमी कभी भी शान्ति और सन्तोष की सांस नहीं ले सकता। अन्त में दुःख से व्याकुल धन-कुबेर भी ईश्वर से सुख की एक बूंद पाने की प्रार्थना करने लगता है। किन्तु यह प्रार्थना तभी सफल होगी अगर प्रार्थी धन की तृष्णा का परित्याग कर दे। भोग और योग के मार्ग एक साथ नहीं चल सकते। असंख्य स्वर्ण-मुद्राओं की कीमत में भी सुख की एक सांस नहीं मिल सकती। सुख-मन्दिर का मार्ग दौलत के बाजार से होकर नहीं गुजरता।

५०

देवता : ज्ञानम् ।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्,
उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।

ऋक् : १०।७१।४।।

(**उत त्वः पश्यन् न ददर्श**) कुछ हैं जो देखते हुए भी नहीं देखते, (**उत त्वः शृण्वन् न शृणोति**) कुछ हैं जो सुनते हुए भी नहीं सुनते । (**उत त्वः तन्वं विसस्रे**) कुछ हैं जिनके समक्ष सत्य स्वयं प्रकट होता है । (**सुवासाः उशती जाया इव पत्युः**) जैसे कोई सुवसना पत्नी पति के समक्ष ।

सत्य को पाना बड़ा कठिन काम है । उपनिषदों के अनुसार सत्य अनेक सुनहरी आवरणों से ढका होता है । बड़े पुरुषार्थ से इस आवरण को उतारना संभव होता है । हमारी आंखें प्रायः आवरण तक ही पहुँच पाती हैं । मिथ्या आवरणों को ही हम सत्य समझ बैठते हैं और इस प्रकार हमारे जीवन में मिथ्या व्यवहारों का ही बाहुल्य रहता है ।

यद्यपि विज्ञान से भी यह बात सिद्ध है कि हम इन चर्मचक्षुओं से वस्तुओं का जो रूप-रंग देखते हैं वह वास्तविक नहीं होता, वास्तविक रूप क्या है, यह जानना भी बड़ा कठिन

कार्य है, फिर भी हम उसी रूप-रंग पर विश्वास कर बैठते हैं जो हमारी आँखें देखती हैं। हमारे सब व्यवहार इन आंखों से देखी सचाई पर ही निर्भर करते हैं।

आंखें आकाश को नीला देखती हैं, जल को नीला या दूधिया देखती हैं, लेकिन सचाई यह है कि न आकाश का कोई रंग है न जल का। हमारी आंखें पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को उदय-अस्त होते देखती हैं—लेकिन ज्योतिष-विज्ञान सिद्ध कर चुका है कि पृथ्वी गतिशील है और सूर्य अपने केन्द्र पर ही घूमता हुआ भी कोई दूरी तय नहीं करता।

अतः इन भौतिक उपकरणों से सिद्ध होने वाले किसी भी ज्ञान को सत्य नहीं कहा जा सकता। हम सभी प्रत्यक्ष देखते हुए भी सत्य नहीं देखते एवं प्रत्यक्ष सुनते हुए भी सत्य नहीं सुनते। चलचित्रों में जिन पात्रों को बोलता हुआ देखते हैं—वे वस्तुतः स्वयं नहीं बोल रहे होते। उनके ओठों से किसी अन्य की वाणी का उच्चारण हो रहा होता है।

सत्य भौतिक साधनों से नहीं बल्कि ज्ञान के गुह्य साधनों से उपलब्ध होता है। मन का दर्पण जब निर्मल होता है तो उसमें सत्य का प्रतिबिम्ब स्वयं पड़ जाता है। मानसिक विकारों की धूल हटने के बाद आत्मा का दर्पण शुद्ध हो जाता है। ऐसे विशुद्ध आत्मा पर परमेश्वर के सत्य स्वरूप की छाया स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाती है।

अतः सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भौतिक एवं बौद्धिक पुरुषार्थ की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी आत्मशुद्धि की आवश्यकता है। आत्मशुद्ध व्यक्ति के समक्ष सत्य स्वयं निरावृत हो जाता है। ऐसे विशुद्ध मनुष्य का परमात्मा स्वयं वरण करते हैं और उस आत्मा में स्वयं सत्यस्वरूप बनकर अवतरित होते हैं।

५१

देवता : सोमः ।

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत्स मन्दी धावति ।।

साम उत्तरार्दिक : ७।२।१॥

(**धारा सुतस्य अन्धसः**) विश्व की प्राणधारा में (**तरत् स मन्दी धावति**) जो सहज तैरता है वह मस्त होकर वेग से पार करता है। (**तरत् स मन्दी धावति**) हल्केपन से तैरने वाला ही पार करता हैं।

मनुष्य का जीवन अपने में बिलकुल स्वतन्त्र इकाई नहीं बल्कि विश्व की प्राणधारा का अंग है। प्राणवान् रहने में ही जीवन की सार्थकता समाप्त नहीं हो जाती, प्राणों का दान करना, नये प्राण सृजन करना भी मनुष्य के स्वाभाविक कार्यों का एक अनिवार्य अंग बन जाता है।

एक बीज का प्रयोजन नये वृक्ष को जन्म देने का होता है तथा वृक्ष का प्रयोजन है नये बीज बनाना। जो बीज अंकुरित होकर वृक्ष में नहीं बदल सकता वह प्राणवान् सृष्टि का अंग नहीं रहता। प्राणों की धारा में अगर अवरोध आ गया तो धारा का ही अन्त नहीं होता प्राणों का भी अन्न हो जाता है।

अनन्त गतिशील तरंगों में दिखाई देनेवाला यह प्राण-

प्रवाह पूर्ण सत्य है। इसका प्रत्येक कण स्वयं में पूर्ण है। यह परिपूर्णता ही उसमें अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति भरती है। और उसमें विभोर होकर मनुष्य नये सृजन करता है। मन का आनन्द अपने अन्तःप्राण से नये प्राण बनाता है। इसी तरह प्राणों की धारा एक दूसरे में मिलती रहती है। यही धाराएं अन्त में मिल जाती हैं और सारा संसार विशाल प्राण-सागर का रूप ले लेता है।

इस प्राण-सागर में सहज सरल भाव से तैरनेवाला मनुष्य ही आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ अपनी सार्थकता बना सकता है। किन्तु सहज-सरल भाव से तैरना तभी संभव है यदि उसे सागर का और अपने अस्तित्व का सच्चा ज्ञान हो। और उसे मालूम हो कि समुद्र की लहरें भी उसी प्रवाह की अंग हैं जिसका वह स्वयं है और यह सब खेल एक परमेश्वर के संकेत पर चल रहा है।

इस प्रवाह को स्थिर रखने के लिए बीजरूपी प्रत्येक मनुष्य अपने अस्तित्व का एक अंश खोकर दूसरे में मिलने और अपने स्थान को दूसरे के लिए देकर आगे बढ़ने का क्रम बनाये रखना पड़ता है। अर्थात् अपने 'अहं' का त्याग करना पड़ता है।

जो अपने को आनन्द पूर्वक देता है, अपने अस्तित्व के अंश का त्याग करता है, वही गतिमय होता है, वही तैरता है। इस प्रकार तैरनेवाला ही संसार के इस सागर को पार करता है। इस दान-परंपरा में जो भाग नहीं लेता वह मर जाता है। प्राण-प्रवाहिणी धारा में उसका कोई स्थान नहीं रह जाता। वह निष्प्राण पाषाण बनकर सदा के लिए डूब जाता है।

५२

देवता : आत्मा ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यत्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

यजु० : ४०।६।

(**यः तु सर्वाणि भूतानि**) जो मनुष्य सब प्राणियों को (**आत्मन् एव अनुपश्यति**) अपना-सा मानता है और (**आत्मानं सर्व भूतेषु**) सब प्राणियों में अपनी छाया देखता है (**ततः न विचिकित्सति**) वह इस आत्मभाव के कारण कभी डांवाडोल नहीं होता, दुर्भावना ग्रस्त नहीं होता ।

दूसरे प्राणियों में भी आत्मभाव स्थिर करना, दूसरों को अपना-सा मानना ही प्रेम है । प्रेम मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है । किन्तु इसका दायरा जीवन में क्रमशः बढ़ता है। अपने स्वजनों-स्वार्थ से जुड़े व्यक्तियों के दायरे से आगे बढ़कर जब यह प्राणिमात्र तक पहुंचता है तब उसमें कल्याण-भावना बनती है और स्थिर होती है ।

सब जीवों में आत्मभाव बनाने से मनुष्य की स्वार्थपूर्ण संकीर्ण वत्ति समाप्त हो जाती है । उसके हृदय की मलिनता धुल जाती है । उसकी आंखें सम्पूर्ण विश्व में अपने को और अपने में सम्पूर्ण विश्व को देखने की योग्यता प्राप्त कर लेती

हैं। यही दृष्टि है जो मनुष्य को आध्यात्म आनन्द का अनुभव ग्रहण करने योग्य बनाती है। यही जीवन का सबसे ऊँचा मूल्यवान् अनुभव है। यह अनुभव ऐसा नहीं जो आज मिलकर कल लुप्त हो जाये। यह हमारे अन्दर ऐसी मनःस्थिति पैदा कर देता है कि हम संसार की सब विषमताओं में एकरस रहते हुए सामान्यतया असह्य कष्टों के बीच भी शान्त और सुखी रह सकते हैं।

सब में आत्मभाव अनुभव करने पर हमारे अन्दर की भेद-बुद्धि या तुलनात्मक बुद्धि का अन्त हो जाता है। प्रायः तुलना में ही हम दु:खी होते हैं। दूसरों को अपने से अधिक धनवान् या यशस्वी देखकर हम स्वयं को दरिद्र मानना प्रारम्भ कर देते हैं। हमारा मन हर समय अपने से दूसरों की तुलना किया करता है जिससे हम दूसरे के दु:ख को भी सुख और अपने सुख को भी दु:ख मानते हुए हर समय संतप्त रहने की आदत डाल लेते हैं।

जो दूसरे के सुख में सुखी होगा वही सुखी रहेगा। दूसरों में अपना रूप देखने और अपने में दूसरों के साथ सुखी अनुभव करने से ही हम अपने उस विराट् स्वरूप की अनुभूति कर सकते हैं जिस स्वरूप में हम आनन्दमय प्रभु के समीप पहुंचते हैं।

सब में आत्मभाव की यह स्थिर अनुभूति ही हमें विराट् स्वरूप के दर्शन करा सकती है। और यही दर्शन ईश्वर के साक्षात्कार का सरल मार्ग है। विश्वात्मा से अपनी आत्मा का संयोग इसी मार्ग में होता है।

५३

देवता : ईश्वरः ।

> **दृते दृ॑ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा,**
> **सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।**
> **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,**
> **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।**

यजु० : ३६।१८

(**दृते दृ॑ह**) हे सर्वसमर्थ प्रभो ! मुझे भी ऐसा सम करकि मुझे (**मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्**) सब प्राणी मित्रभाव से देखें। और (**अहं मित्रस्य चक्षुषा सर्वा भूतानि समीक्षे**) मैं सबको मित्रभाव से देखूं। (**वयं मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे**) हम सब परस्पर मित्रदृष्टि से एक-दूस को देखें।

मनुष्य के जीवन की सार्थकता का माप उसके सच्चे मित्र की संख्या से लगाया जा सकता है। मित्र वही बना सकता है जो दूसरों के हितसाधन में अपने स्वार्थ को भूल सकता है। अप को दूसरों के लिए मिटा सकता है।

मिटाने का अर्थ है कि मनुष्य को अपनी चिन्ता छोड़कर दूस को भरपूर स्नेह-सहानुभूति देना। मनुष्य यदि अपने को भूलन याद रख ले तो उसे सब की बात याद रहती है। और जो अप

को भूल जाता है उसे ही दुनिया याद रखती है, अमर बना देती है।

किसी को मित्रभाव से देखना सरल नहीं है। जीवन की इस अमरबेल को हृदय रस से सींचना पड़ता है। जो हृदय से नहीं देगा उसके दान का कोई प्रभाव नहीं होगा। जिसका हृदय अपने प्रतिस्पर्धी का भी अभिनन्दन नहीं कर सकेगा और अपने से द्वेष रखनेवाले को भी स्नेह नहीं कर सकेगा वह सब में आत्मभाव की स्थापना नहीं कर सकता।

केवल मधुर मुस्कान या मीठे शब्द कहने से ही आत्मभाव स्थिर नहीं हो जाता। प्रकट रूप में बड़े आडम्बरों के साथ कुर्बानी करने से भी मित्रभाव में स्थिरता नहीं आती। उसके लिए सबके साथ सरल सच्चे व्यवहार, सबका समादर तथा तीव्र सहानुभूति के भावों का विकास भी अनिवार्य है।

परस्पर मैत्री भाव का उदय भी तभी होता है जब परस्पर आदर का भाव भी हो। अपने को महान् तथा दूसरों को छोटा समझ कर कोई कितना ही दान कर ले या प्रेम-प्रदर्शन कर ले परस्पर मैत्री भाव का उदय नहीं होगा। अतः परस्पर आदर भाव भी मैत्री की स्थिरता के लिए आवश्यक है।

सबके साथ मित्र भाव से व्यवहार करने वाला ही विश्व में आत्मभाव की अनुभूति कर सकता है—विश्वात्मा में एकात्मता के आनन्द का अनुभव कर सकता है।

५४

देवता : अग्निः।

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥

यजु० : ३।४७

जो मनुष्य (**मयोभुवा वाचा सह**) मंगलमयी वाणी के सा (**सचाभुवः कर्मकृतः**) सहयोग भावना से कर्म करने वाले (**अक्रन्**) अपना कार्य करते हैं—वे (**देवेभ्यः कर्म कृत्वा**) अ पूज्य पुरुषों के निर्देशन में काम करते हुए (**अस्तं प्रेत**) मनोरथ प्राप्त कर ले हैं।

सहयोग भावना से कर्म करने का जो महत्त्व है वह व्यक्ति गत स्वार्थ या उत्कर्ष से भी अधिक महान् है। मनुष्य सामाजि प्राणी है। वह अपने आप में ही सिमटकर नहीं रह सकता है हमारी हर सांस विश्व के उस श्वास-निःश्वास में मिली हैं जो अखण्ड ब्रह्माण्ड में गतिशील है।

हमारी प्रत्येक चेष्टा से दूर-पास की दुनिया प्रभावित हो है। और दुनिया की प्रत्येक गति से, चाहे वह भूमण्डल किसी भी भाग में हुई हो हम प्रभावित होते हैं उसे समा कह देते हैं। यह समाज हमें अपने व्यक्तित्व के विकास अवसर देता है। अतएव हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि ह

उसी सूत्र में बंधी अन्य कड़ियों के विकास में पूरा सहयोग दें।

जो सहयोग नहीं करता, अपने स्वार्थों और केवल अपनी मान्यताओं में बंधा रहता है वह अपनी प्रगति में भी बाधक बन जाता है। वह अपने अहं की परिधि में कैद रहता है। जो खुद कैद है वह संसार को कष्टों से मुक्ति देने में सहायक नहीं हो सकेगा।

सहयोग की पहली शर्त यह है कि मनुष्य सदा मंगलमयी वाणी का प्रयोग करे। वाणी द्वारा ही हम अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करते हैं। और सहयोग की भूमिका तभी बंधेगी यदि हमारी वाणी में सहानुभूति होगी, मिठास होगी। और मंगल-भावना का स्पष्ट संकेत होगा।

सहयोग की दूसरी शर्त यह है कि हम अपने से अधिक ज्ञानी और अनुभवी व्यक्तियों का निर्देशन स्वीकार करें। यज्ञ-भावना में इसी को देवपूजन कहा गया है। जो समाज अपने सफल, यशस्वी पुरुषों का नेतृत्व स्वीकार करता है वह शीघ्र उन्नति करता है।

पूर्वजों की अनुभवसिद्ध परम्पराओं का तिरस्कार करके नये से नये प्रयोग करने वाला समाज अंधेरे रास्तों में भटक जाता है।

५५

देवता : ग्रात्मा ।

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥

अथर्व० : १०।८।३०॥

(**यः तत् सूत्रं विद्यात्**) जो उस सूत्र को जान लेता है (**यस्मिन् इमाः प्रजाः ग्रोताः**) जिससे यह सब चराचर विश्व ग्राबद्ध है, वह भौतिक विज्ञान का ज्ञानी बन जाता हैं। किन्तु जो (**सूत्रस्य सूत्रं विद्यात्**) इस भौतिक सूत्र के भी ग्रन्तर्गत सूक्ष्म सूत्र को जानता है (**स विद्यात् परमं महत्**) वह महत् विराट् ब्रह्म का रहस्य जानता है।

समस्त ज्ञान दो भागों में विभक्त है । भौतिक पदार्थों का ज्ञान तथा ग्रात्मा विषयक ज्ञान । उपनिषदों में इन्हें परा-ग्रपरा विद्या नाम दिया है। दोनों एक-दूसरे की विरोधी विद्याएं नहीं बल्कि पूरक विद्याएं हैं । उपनिषत्कार ऋषियों का मत है कि दोनों का ज्ञान प्राप्त करने से ही ज्ञान पूरा होता है। भौतिक ज्ञान के जाने बिना ईश्वर के ग्रनन्त रूप तथा ईश्वरीय शक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता ।

जब तक विराट् विश्व में व्याप्त परमेश्वर की दृश्य शक्तियों का गूढ़ ज्ञान नहीं मिलता, तब तक उसकी ग्रदृश्य

शक्तियों के रहस्य जानने की पूरी भूमिका नहीं बनती। इसीलिये भौतिक विज्ञान के पारंगत वैज्ञानिक भी ऋषि की उपाधि से विभूषित किये जाने योग्य हैं। उनकी आस्था का आधार बहुत दृढ़ होता है।

किन्तु भौतिक ज्ञान को ही अन्तिम ज्ञान समझ लेने से भी ज्ञान का मार्ग रुक जाता है। वास्तविक ज्ञानी वही है जो भौतिक ज्ञान जान लेने के बाद यह अनुभव करे कि अभी आत्म-जगत् के सम्बन्ध में बहुत जानना शेष है।

प्रकृति का कार्यकलाप जिस सूत्र में—जिन विधि-विधानों से अनुशासित है उसका ज्ञान वैज्ञानिकों ने बहुत अंशों तक जान लिया है, लेकिन प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन के शब्दों में—'हम में से बहुत थोड़े व्यक्ति ऐसे हैं जो जिज्ञासु भाव से यह सोचते हैं कि—आखिर इस अनन्त—अनादि आवागमन का प्रयोजन क्या है ?—मिटमिट कर यह शरीर फिर क्यों इस धरती पर आता है ?

जिज्ञासुभाव से जो इन प्रश्नों का उत्तर जानना चाहेगा उसे अपने अन्दर ही उत्तर मिलेगा। यह उत्तर अध्यात्म शास्त्रों के अभ्यास से ही नहीं मिलता। आत्मा अपने ज्ञान की प्यास अपने ही सरोवर के जल से बुझाता है। मनुष्य के अन्तःस्थित ज्ञान-मन्दिर का सर्वज्ञ देवता है। वह इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में देता है।

मनुष्य के अपने ही अन्तर में वह ज्ञान छिपा हुआ है जिसे वह स्वयं प्रकट करता है। आत्मा जब सर्वथा निर्मल होता है तो परमात्मा की छवि उस पर अंकित होती है और वह सब कुछ जानता है।

५६

यदङ्गदाशुषे त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ।।

ऋक्० : १।१।६॥

हे अङ्ग ! (**अङ्गिरः अग्ने**) हे प्रिय, प्रियतम ज्योतिर्मय प्रभु! (**तव एतत् सत्यम्**) तेरी इस महिमा में पूरी सचाई है कि तू (**दाशुषे भद्रं करिष्यसि**) देने वाले का कल्याण अवश्य करता है।

देने वाले को भगवान् देता है । देने में ही जीवन की कृतार्थता है। कुदरत ने स्वभाव से ही जीवमात्र को दानी बनाया है । कोई प्राणी ऐसा नहीं जो सन्तान पैदा न करता हो और सन्तान के लिए तन-मन का दान न करता हो ।

माता अपने को मिटाकर अपने यौवन, अपने सर्वस्व का दान करके ही मां बनती है, पिता अपने सम्पूर्ण पौरुष को सन्तान के समर्पित कर देता है। वनस्पति जगत् में भी पेड़-पौधे नये जीवन के लिए अपने को मिटाते हैं ।

प्रेम का दायरा जब विस्तृत हो जाता है तो दान का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता है । अपनी सन्तान के बाद परिवार, परिवार से बिरादरी, फिर अपना देश और बाद में निखिल विश्व के साथ प्रेमभाव बढ़ने से मनुष्य का हृदय सबके लिए सर्वस्व दान करने को तत्पर हो जाता है ।

वृक्ष की नयी कोंपलों को देखकर या पशुओं के नवजात शिशुओं को देखकर उसका दिल स्नेह से भर जाता है। तब वह हर घड़ी प्रेम विभोर रहता है। क्योंकि उसे चारों ओर नई प्राण-कलिकाएं फूटती दिखलाई देती हैं।

वह देखता है बूढ़े वृक्ष पृथ्वी से जितना रस लेते हैं सब अपनी नयी कोंपलों तक पहुँचा देते हैं; बूढ़ी बकरी पौधों के सूखे पत्ते खाकर उदर में अपने बच्चों के लिए दूध बनाती है और अपने सद्य:जात शिशुओं को आत्मदान करते हुए उसकी सूखी हड्डियों में भी रोमांच हो जाता है।

आत्मदान करते हुए प्राणी ईश्वरीय गुणों के समीप पहुँच जाता है। उसका देवत्व उभरकर ऊपर आ जाता है। मानो ईश्वर स्वयं उनके हृदय में प्रवेश करके जीव से दान-कर्म करवाता है। इस प्राणदान में परमात्मा ने आनन्द का स्रोत भर दिया है।

इस आनन्द से दानी मनुष्य को नया जन्म मिलता है। उसके मन में उमंग भरती है, आत्मा को नया प्रकाश मिलता है। शरीर के रोम-रोम में रक्त का नया संचार होता है। शरीर के सोये हुए स्नायुतन्तुओं में नई जागृति आती है। ईश्वर का यह अमिट विधान है कि दान देने से कोई कंगाल नहीं होता। ज्ञान देने से ज्ञान की वृद्धि होती है, आनन्द देने से आनन्द का सागर उमड़ता है।

५७

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

ऋक : १०।१९१।४

(**समानी वः आकूतिः**) हम सबके साथ सहयोग भाव से क करें। (**समाना हृदयानि वः**) हमारे हृदय में सहयोग भाव (**समानमस्तु वो मनोः**) हमारा चिन्तन और संकल्प एक लक्ष्य के लिए हो। (**यथा वः सुसहासति**) जिससे हमारे समाज स्वस्थता और सम्पन्नता रहे।

विश्व के अणु-अणु में सहयोग भावना भरी है। सब सूत्र में बंधे हैं। परस्पर विरोधी गुणों के होते हुए भी देवता जगत् में व्यवस्था बनाये रखने के लिए परस्पर सहयो से विश्व-संचालन में सहायता करते हैं।

अग्नि का धर्म जलाना है, जल शीतल है अग्नि का विरो है किन्तु दोनों का सहयोग विश्व में अनन्त शक्ति को ज देता है—अनन्त प्राणों के सृजन, पालन, पोषण में सहा होता है।

सब मनुष्यों के हृदय की स्थिति भिन्न है किन्तु सब तुल्य भावनाओं से अनुकम्पित हैं और एक भावना में बह जब मानव समुदाय कोई कार्य करता है तो उसमें अनन्त श

का संचार हो जाता है ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में, समष्टि में ही उसका विकास होता है । विकास की इच्छा से मानवमात्र को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ भुलाकर सामाजिक हित के लिए सहयोग भाव ग्रहण करना पड़ता है । सब के कल्याण में अपना कल्याण मानना पड़ता है ।

जब मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है तब वह अपने दायरे से निकलकर विस्तृत दायरे में आता है । उसके चिन्तन की परिधि विस्तीर्ण हो जाती है। वैयक्तिक धर्म को गौण समझकर वह समष्टि धर्म को अपनाता है ।

सामाजिक सामंजस्य के लिए मनुष्य को वाणी पर संयम रखने और स्वार्थभाव को तिलांजलि देने का व्रत लेना पड़ता है। विचारों में सहमति लाने के लिए पूर्वाग्रहों का त्याग करके सामाजिक प्रवाह के साथ बहने की प्रवृत्ति अंगीकार करनी पड़ती है । परस्पर सौजन्य और सम्मान के व्यवहार को मुख्यता देना उसके स्वभाव का अंग बन जाता है ।

५८

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

ऋग्वेद : १०।१५१।१

(**श्रद्धया अग्निः समिध्यते**) श्रद्धा द्वारा मन की अग्नि प्रदीप्त होती है। (**श्रद्धया हविः हूयते**) श्रद्धा से ही जीवन यज्ञ में आहुति दी जाती है। (**श्रद्धां भगस्य मूर्धनि**) श्रद्धा से ही हम सौभाग्य शिखर पर पहुँचते हैं। यह सत्य वेदवाणी द्वारा अनुमोदित और प्रमाणित है—इसे जानो।

श्रद्धा के अनुरूप ही मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है। उसका चिन्तन, कार्यकलाप उसके अन्तर की श्रद्धा के अनुरूप ही निर्मित होते हैं।

श्रद्धा ही मनुष्य को कर्म की प्रेरणा देती है। और कर्मक्षेत्र के संघर्षों में उत्साह पूर्वक भाग लेने तथा जय-पराजय को धैर्यपूर्वक सहने का निर्देश देती है।

श्रद्धा से ही यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त होती है। यज्ञ का लक्ष्य कल्याणकारी कार्यों को संगठित रूप से सम्पन्न करना है। इस यज्ञ में जीवन को समिधा बनाना पड़ता है। वह यज्ञ अनेक रूपों में होता है। छोटे से छोटा मांगलिक कार्य भी यज्ञ का रूप ले लेता है यदि कार्य करने वाले उसमें पूरी तन्मयता

अपनी हवि अर्पित करते हैं। यज्ञीय व्यक्तियों के हवि-अर्पण बिना कोई यज्ञ पूरा नहीं होता।

संसार के उत्कर्ष का इतिहास अनेक श्रद्धार्पित मनुष्यों के हवि दान की घटनाओं से भरा हुआ है। बलिदान की भावना के मूल में श्रद्धा भावना ही पनपती है। किसी भी कार्य में श्रद्धा करने से वह वस्तु ही जीवित और शक्तिमान् नहीं होती बल्कि श्रद्धा करने वाले का जीवन भी नई शक्ति, नई उमंग से भर जाता है।

आत्मा में वह उमंग संसार भर के दार्शनिक ग्रन्थों के के अध्ययन अथवा युक्ति-प्रत्युक्ति के क्रम से नहीं आती जो श्रद्धा की एक चिंगारी से आ जाती है।

तर्क-वितर्क से मन सदा संशयालु रहता है। हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। किन्तु जब हम तर्क-वितर्क को ताले में बन्द करके केवल लक्ष्य प्राप्ति के लिए जीवन अर्पित करने का निर्णय करते हैं तो सीधे परम सत्ता की शरण में आ जाते हैं। फिर वही प्रभुसत्ता हमारी पथ-प्रदर्शिका बन जाती है। हमें अपने अन्दर नई स्फूर्ति, नवीन प्रेरणा अनुभव होती है। जय-पराजय की चिन्ता छोड़कर जब हम जीवन के रण-क्षेत्र में कूद पड़ते हैं तो जीवन के सभी संघर्षों पर विजय पा लेते हैं।

हमारे चिन्तन का आधार हज़ारों वर्षों के तर्क-वितर्क का परिणाम नहीं है, बल्कि वह है जो ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान वेदवाणी के रूप में प्राप्त हुआ है। वेद द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सिद्धान्तों पर ही श्रद्धा और ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' पर अटूट श्रद्धा रखना धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है।

५९

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः मोदमानौ स्वे गृहे ॥

ऋक् : १०।८५।४२॥

विवाहित पति पत्नी (**इह एव स्तं**) यहां संसार में ही रहें (**मा वियौष्टं**) वियुक्त न हों (**विश्वम् आयुः वि अश्नुतम्**) पूर्ण आयु का भोग करें। दोनों (**स्वे गृहे मोदमानौ**) अपने घर में आनन्द मनाते हुए (**पुत्रैः नप्तृभिः** [सह] **क्रीडन्तौ**) अपने पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते-हंसते हुए पूर्ण आयु का भोग करें।

गृहस्थ जीवन का महत्त्व ब्रह्मचर्य से कम महत्त्व का नहीं माना गया। गृहस्थ जीवन को पवित्र और उपयोगी बनाना उतना ही आवश्यक है जितना ब्रह्मचर्य-काल में विद्याध्ययन करना।

पति-पत्नी वंश-वृद्धि के लिए एक-दूसरे का वरण करते हैं। वंश-वृद्धि करना ईश्वरीय विधान है। इस विधान को स्वीकार करके दोनों यह भी व्रत लेते हैं कि वे एक बार संयुक्त होकर कभी वियुक्त होने का विचार भी नहीं करेंगे। इस व्रत का निभाना तभी संभव है यदि वे अपने सम्बन्ध को शारीरिक न मानकर आत्मिक मानें। शारीरिक संयोग कदापि स्थायी नहीं हो सकता। वह केवल भोग पर आश्रित होगा। उसका आधार

बहुत क्षणिक होगा।

विवाह सम्बन्ध को स्थायित्व तभी मिलता है यदि पति-पत्नी में सच्चा प्रेम होगा। प्रेम का अर्थ वासना की तृप्ति नहीं अपितु आत्मिक अनुकूलता है। परस्पर एक-दूसरे के लिए गहरी सहानुभूति और संवेदन ही प्रेम के स्थायी आधार बनते हैं।

प्रेम बलिदान और समर्पण की अपेक्षा रखता है। दूसरे के सुख में अपना सुख मानने और दूसरे के विकास में अपना विकास मनानेवाला ही प्रेम कर सकता है। पति-पत्नी जब माता-पिता की पदवी प्राप्त करते हैं तो उनके सम्बन्धों का आधार उनकी सन्तान का योगक्षेम बन जाता है। अपनी सन्तान के लिए दोनों के हृदय में अपार प्रेम होता है। यह प्रेम ही दोनों के सम्बन्धों को स्थायित्व प्रदान करता है इसीलिये वेद ने कहा है कि अपने पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए पूर्ण आयु का भोग करो।

पुत्र-पौत्रों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम रखने वाले माता-पिता कभी वियुक्त होने का विचार नहीं करेंगे। दोनों के वात्सल्य का केन्द्र विन्दु एक ही होता है इसीलिए उनकी एकात्मता का आधार भी सदैव एक रहेगा। सन्तान के हित में सर्वस्व-समर्पण करने वाले माता-पिता आजीवन संयुक्त रहेंगे।

६०

**मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे
वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् ।
पाप्मा हतो न सोमः ।।**

यजु० : ६।३५

(**मा भेर्मा संविक्था**) भयभीत न हो, संकीर्ण न बनो (**ऊ**
धत्स्व धिषणे) तेजस्वी बनकर सुशोभित होग्रो। (**वीड्वी**
सती वीडयेथाम्) पुरुषार्थ से दुःखों का निवारण करो। (**ऊ**
दधाथाम्) हृदय में धारणा रखो कि मैं निर्बल नहीं। (**पाप्मा हत**
न सोमः)भगवान् ने हमें पाप से युद्ध करने योग्य बनाया है।

भयभीत होना मनुष्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। भय
की प्रवृत्ति मानव स्वभाव का अंग है। आत्मरक्षा के लिए
यह प्रवृत्ति उपयोगी भी है। अन्यथा बलवान् शत्रु के प्रहार
से कोई भी मनुष्य अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

किन्तु सहज प्रवृत्ति पर विजय पाने में ही मानव का गौरव
है। विजय पाने के लिए मन में साहस और आत्मविश्वास की
भावना को स्थिर करना पड़ता है। अन्यथा भय की भावना
आत्मा को निर्बल बना देती है। मन में हीनता के विचार जड़
पकड़ लेते हैं। एक बार इन निर्बलतामूलक विचारों के जागने
पर मनुष्य जीवन संघर्ष करने के अयोग्य हो जाता है।

जीवन का मार्ग संघर्षों की कांटेदार पगडंडियों से होकर गुजरता है । जीवन में हर कदम पर संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति युद्ध करने से पहले ही पराजय स्वीकार कर लेता है ।

इसलिए विजयी जीवन बिताने और उत्कर्ष के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए निर्भय होना बहुत आवश्यक है। लेकिन यह शक्ति केवल भावना से नहीं आती । शक्ति-संचय के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है । परिश्रम पूर्वक साधनों को जुटाने के बाद जीवन-संघर्ष में विजयी होने का जो आत्मविश्वास जागता है वह श्रम-हीन व्यक्ति में नहीं जाग सकता ।

श्रम करते हुए सर्वसमर्थ ईश्वर के प्रति यह श्रद्धा रखना भी आवश्यक है कि हमारे अन्दर ही ऐसी शक्ति विद्यमान है जो हमें विरोधी वातावरण में भी विजयी बना सकती है । मन की अन्त:शक्ति पर श्रद्धा रखे बिना बाहर की विरोधी शक्तियों का सामना नहीं किया जा सकता । परमात्मा ने प्रत्येक व्यक्ति के अन्त:करण में यह विश्वास दिया है कि वह बाहर की परिस्थितियों पर—चाहे वह कितनी ही प्रतिकूल हों विजय पा सकता है ऐसी आत्मश्रद्धा ही जीवन को यशस्वी बनाती है । इस अटूट विश्वास के साथ ही हम अपनी अन्त:स्थ निर्बलताओं पर विजय पा सकते हैं और संसार के संघर्षों का सामना कर सकते हैं । वेद निर्भय होने का आदेश देता है । इस आदेश पर चलकर ही मनुष्य जीवन में सफलता पाता है ।

६१

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानः, अमृते लोके अक्षिते
इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

ऋक्० : ९।११३।७॥

हे प्रभु (**तस्मिन् मां धेहि पवमानः**) मुझे शीघ्र वहां अवस्थित करो (**यत्र अजस्रं ज्योतिः**) जहां अखण्ड ज्योति है (**यस्मिन् अक्षिते अमृते लोके स्वः हितम्**) जिस अक्षय अमृत लोक में निरापद सुख रहता है । हे इन्द्र ! (**इन्द्राय परिस्रव**) मन सर्व समर्थ प्रभु की ओर ही सर्वदा अपना प्रवाह रख ।

जिस सदा प्रकाशित, सदा आनन्दमय लोक में जाने की प्रार्थना की गई है, वह मनुष्य को इसी जन्म में प्राप्त हो जाता है यदि उसका मन संसारी भोगों की ओर न जाकर ईश्वर के ध्यान में लीन रहे। संसार के भोग क्षणिक तृप्ति देनेवाले हैं। तृप्ति होने से पहले ही नये भोगों की लालसा मन में जाग जाती है । मन चंचल रहता है । इच्छाओं की आग भड़कती जाती है ।

संसारी भोगों की प्राप्ति के समय मन में जो आनन्द का प्रकाश चमकता है वह एक क्षण ही रहता है । अगले क्षण वह बुझ जाता है । खंडित हो जाता है, क्षीण हो जाता है । इसी-

लिए प्रत्येक भोग के बाद मन अपने को थका-हारा अनुभव करता है। नया जीवन, नया उत्साह देने के स्थान पर वह थकान देता है। नये आनन्द की आशा देने की बजाय वह दुःख, अंधेरा और निराशा के गहरे गर्त में धकेल जाता है। मनुष्य यदि दिन-प्रतिदिन निरन्तर आशा-निराशा के इन आघातों को झेलता रहे तो उसकी जीवन-शक्ति पूरी आयु भोगने से बहुत पूर्व ही क्षीण होकर समाप्त हो जायेगी। उसे जीने का सच्चा आनन्द कभी न आयेगा।

यह आनन्द तभी आयेगा यदि वह अपना मन संसारी भोगों की तृप्ति से हटाकर ईश्वर की ओर मोड़े। ईश्वर और ईश्वरीय वैभव के प्रति प्रेम भाव जागृत होते ही मन में शान्ति और आनन्द का प्रकाश फैल जाएगा। ईश्वर की ओर झुकाव होते ही मन में शान्ति, सन्तोष, मानव-सेवा, प्रेम, दया करुणा के भाव जाग्रत् हो जायेंगे। मनुष्य का चरित्र ही बदल जाएगा उसकी दृष्टि में आमूलचूल परिवर्तन हो जायेगा।

ईश्वर में श्रद्धाभाव जाग्रत् होने के साथ ही मनुष्य स्वयं को ईश्वर के अनन्त अखण्ड वैभव का सहभागी मानने लगता है। उसका आत्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त ज्योतिर्मय अखण्ड आत्मा से युक्त हो जाता है। संसार के क्षण-प्रतिक्षण बनने-मिटने वाले भोगों के प्रति उसका मन आकृष्ट ही नहीं होता। वह समस्त ब्रह्माण्ड की अखण्ड, अनन्त, अक्षय ज्योति के इतना निकट पहुँच जाता है कि उसे उसी ब्रह्मलोक में निवास करने की प्रतीति हो जाती है।

६२

दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददातु। अथ पक्वेन सह सं भवेम।

अथर्व० : १२।३।५५॥

(अत्र न दिष्टं जरसे नि नेषत्) हे विधाता ! हमें नियतिवश वृद्धावस्था प्राप्त हुई है। आप के नियमों के अनुसार नियतिवश ही हम वृद्धावस्था के बाद मृत्यु को प्राप्त होंगे। और उसी नियति के नियमों में बंधकर हम कर्मयोग से पुनः जन्म लेंगे।

जिसने जन्म लिया है उसे मृत्यु भी स्वीकार करनी होगी। न हम अपनी इच्छा से जन्म लेते हैं और न अपनी इच्छा से मरते हैं। दोनों भगवान् के अधीन हैं। दोनों को चुपचाप स्वीकार करना पड़ता है। स्वीकार करने में ही शान्ति है।

किन्तु होता यह है कि हम जन्म तो प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं और मृत्यु को स्वीकार करते हुए अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जन्म के साथ मृत्यु का अटूट सम्बन्ध है। जन्म के दिन से ही हमारी मृत्यु का दिन समीप आना शुरू हो जाता है। आयु की वृद्धि में ही क्षीणता का बीज छुपा हुआ है। कोई कितना ही स्वस्थ हो, कितना ही ऐश्वर्य-वान् हो, योगी-महायोगी हो, मृत्यु से बचकर नहीं रह सकता।

यह जानने के बाद हमें मृत्यु का स्वागत करने की मनः

स्थिति बनानी चाहिए। मृत्यु को चुनौती देना मूर्खता है। उसे अपना जीवन अंग मानकर बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं को ढालना ही बुद्धिमानी है।

मृत्यु शरीर की होती है। आत्मा नित्य है। यह जानकर भी हमें दुःखी होने की आवश्यकता नहीं। हमारे दुःख का एक कारण यह भी हो जाता है कि हम केवल मृत्यु से ही नहीं बल्कि मृत्यु के सीमा-चिह्न की ओर बढ़ते हुए मार्ग में आने वाली वृद्धावस्था से भी चिन्तित हो जाते हैं। शरीर की क्षीणता को अभिशाप समझने लगते हैं और इस अवश्यंभावी स्थिति पर काबू न पाकर अशान्त, अधीर हो जाते हैं।

हम यह भूल जाते हैं कि शरीर की प्रत्येक अवस्था का अपना आनन्द है और अपने दुःख हैं। वयोवृद्ध होने के साथ यदि मनुष्य ज्ञानवृद्ध भी हो जाये तो शरीर के ह्रास की क्षतिपूर्ति हो जाती है। ज्ञान का विकास हमारे हृदय को आनन्द के इतने नये क्षेत्रों में ले जाता है कि हमें शरीर की आपेक्षिक निर्बलता का कोई दुःख नहीं होता।

आयु-वृद्धि के साथ यदि ज्ञान की गहराई भी बढ़ती जाये तो मृत्यु के समय जरा-जीर्ण शरीर से मुक्ति पाते हुए ज्ञान-सम्पन्न आत्मा को सुख ही होगा, दुःख नहीं। क्योंकि उसे विश्वास होगा कि वह केवल पुराने देह का त्यागकर नये देह को धारण कर रहा है; बिलकुल वैसे ही जैसे पुराने वस्त्रों को छोड़कर हम नये वस्त्र पहनते हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानी को मृत्यु दुखःदायी नहीं होगी। वेद का यह मन्त्र मनुष्य को इस ज्ञान के अनुकूल मनःस्थिति बनाने में बहुत सहायक हो सकता है।

६३

यं रूपाणि प्रतिमुञ्चामना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्ति अग्निष्टांल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्॥

यजु० २।३०

(**ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः**) जो भोगों को विकृत कर भोगते हुए (**असुराः सन्तः**) दुष्ट प्रकृति के होकर (**स्वधया चरन्ति**) मनमाने ढंग से विचरण करते हैं और (**ये परापुरः निपुरः भरन्ति**) त्याज्य भोगों और विलासों का भोग करते हैं (**अग्निः तान् अस्मात् लोकात् प्रनुदाति**) उनकी अपनी पापाग्नि ही उन्हें इस लोक से मिटा देती है।

मनुष्य जन्म पुराने कर्मों का फल भोगने और अपने ज्ञानपूर्ण पुरुषार्थ से नये कर्म करने के लिए होता है। कर्मफल भोगते हुए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह उन मर्यादाओं का भंग न करे जो स्वाभाविक रूप से निर्धारित की गई हैं। मर्यादाएं ही भोग के रूप का निश्चय करती हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः इन मर्यादाओं के रूप का समाज-सम्मत होना आवश्यक है।

मर्यादाएँ न होंगी तो स्वेच्छाचार बढ़ेगा। कोई भी कार्य अनुशासित रूप से न हो सकेगा। सर्वत्र अराजकता और उपद्रव का राज्य होगा। ऐसे उच्छृङ्खल वातावरण में न तो व्यक्ति

का ही विकास संभव होगा न समाज का। अनुशासनहीन समाज में केवल पाशविक बल से आततायी व्यक्तियों की प्रधानता हो जाती है। उसमें न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य का विवेक लुप्त हो जाता है। परस्पर सहयोग की भावना या सहानुभूति आदि के मानवोचित गुणों के प्रभावशाली होने की गुंजाइश ही नहीं रहती। वहां पशुबल ही प्रधान हो जाता है। मनमाने ढंग से मुक्त आचरण करना ही समाज का नियम बन जाता है और ऐसे स्वेच्छाचारी व्यक्ति ही अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं।

किन्तु यह प्रभुत्व चिरस्थायी नहीं होता। कुछ दिन का ही होता है। अन्याय और अत्याचार जब सीमा से बढ़ जाते हैं तो सहन करने वालों का धैर्य भी टूट जाता है। वे अन्यायी को मिटाने के लिए कमर कस लेते हैं। इसी प्रकार जब भोग विलास की लपटें मर्यादा से बाहर निकलने लगती हैं तो वह अपने को ही भस्म करने का सामान जुटा लेती हैं। भोगों की आग भोगी की ही चिता बन जाती है। उस आग में वह खुद जल जाता है।

इसीलिए कुछ भोगों को त्याज्य माना गया है। मनुष्य का असंस्कृत मन पशु-मन के समान होता है। वह ढलान की ओर वेग से बढ़ता है। पानी की तरह उसकी स्वाभाविक गति निचले स्तर पर जाने की होती है। किन्तु तत्त्वज्ञान से और विवेक से चित्तवृत्तियों का निरोध करके उत्कर्ष की ओर ले जाना ही धर्म का लक्ष्य है। धर्म की इस भावना को समझकर प्रत्येक मनुष्य को अपनी भोग प्रधान प्रवृत्ति पर स्वयं अंकुश रखना चाहिए। अन्यथा भोगों का गुलाम बनकर वह स्वयं निर्बल हो जायेगा, उनकी आग में खुद जल जायेगा।

६४

**अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधा—
दमहं य एवास्मि सोऽस्मि ॥**

यजु० : २।२८।

(**व्रतपते अग्ने**) व्रतों की रक्षा करने वाले प्रकाशस्वरूप देव ! मैंने (**व्रतम् अचारिषं**) व्रत धारण किया था । मैंने (**तत् अशकं**) वह पूरा किया है (**तत् मे अराधि**) वह मेरा व्रत सिद्ध हुआ । (**अहं यः एव अस्मि सः अस्मि**) मैं जो हूँ, उसी स्वरूप में हूँ, उसे जान गया हूँ ।

परम प्रभु को साक्षी रखकर सत्य साधक मनुष्य जब व्रत ग्रहण करता है तो इस विश्वास से ही करता है कि इस व्रत की रक्षा में व्रतपति परमेश्वर उसकी सहायता करेंगे । कोई भी शुभ कर्म परम प्रभु की सहायता बिना सिद्ध नहीं होता ।

व्रत लेने का अर्थ है शुभ कार्य को पूरा करने का दृढ़ संकल्प करना और जीवन के सब व्यवहार उस संकल्प को पूरा करने में सहायक बनाकर करना । व्रात्य-साधक के अन्य सब आचरण गौण हो जाते हैं—मुख्य रहता है केवल अपना व्रत पूरा करना । व्रत पूरा करने के बाद साधक को पूर्ण सन्तोष होता है कि उसका जीवन सार्थक हो गया । परम सन्तोष प्राप्त करने के बाद वह प्रभु को धन्यवाद देते हुए कह उठता है—हे प्रभु !

मैंने जो व्रत धारण किया था वह आपके आशीर्वाद से पूरा कर चुका हूँ। अपने निर्धारित व्रत की सिद्धि के साथ उसमें विलक्षण आत्मशक्ति पैदा हो जाती है। वह आत्मविश्वास की चरमसीमा पर पहुँच जाता है। अपने प्रति उत्पन्न अपूर्व आत्मविश्वास के साथ वह कह उठता है : मैं जो हूँ वही हूँ। अर्थात् मैंने अपने सच्चे स्वरूप को पहचान लिया है। यही आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति है जिसे पाने के लिए बड़े-बड़े अध्यात्मचिन्तक और अन्वेषक अनेक साधनों से पाने का यत्न करते हैं।

आत्म साक्षात्कार मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। ज्ञान मार्ग के साधक इसे निगम-आगम की सहायता तथा एकाग्र मन के चिन्तन द्वारा पाते हैं किन्तु कर्मयोगी अपने व्रत पर दृढ़ रहकर और तपस्या तथा श्रम से सिद्ध करते हैं। भक्ति-मार्ग के साधक इसे भक्ति द्वारा पाते हैं।

सामान्य जन संसार के कर्तव्यों को निभाते हुए सबके सुख दुख में उनके भागीदार बनते हुए अपने निर्धारित कर्तव्य कर्मों को पूरा करते हैं और इस पूर्ति में ही उन्हें सत्य से साक्षात्कार हो जाता है। सत्य की प्राप्ति से ही आत्मसत्य की, आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। सत्य को पाकर ही मानव परम सत्य का आत्मा से साक्षात्कार कर सकता है।

६५

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि। वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ।।

यजु० : २।२६

हे प्रभो ! तू (**स्वयंभूः असि**) स्वाश्रित है, (**वर्चोदाः श्रे॰ रश्मिः असि**) तू दिव्यतम प्रकाश की स्रोतस्विनी किरण (**वर्चः मे देहि**) मुझे तेज प्रदान कर। (**सूर्यस्य आवृतम् अ॰ आवर्ते**) मैं सूर्य के समान अनवरत अपनी धुरी पर स्थित र॰ हुआ सतत साधना करता रहूँ।

साधक ज्योतिर्मय प्रभु के आशीर्वाद और अपनी तपस्या॰ सत्त्वशील होने के बाद प्रभु की आराधना करते हुए कहता है॰ हे प्रभु ! आप स्वयंभू हैं, अपनी सत्ता पर स्वयं स्थित॰ अपनी सत्ता के लिए आप किसी पर आश्रित नहीं, किसी॰ अपेक्षा नहीं रखते। समस्त जगत् परस्परापेक्षी है। एक दू॰ की सहायता पर आश्रित है। पृथ्वी सौर शक्ति पर अवलम्बि॰ है। सूर्य की ऊर्जा से ही सौर मंडल की सब देव शक्तियाँ॰ अपना आधार मिलता है। प्राणिमात्र इन देवशक्तियों की॰ पर जीवित हैं।

किन्तु परमेश्वर किसी अन्य की सहायता से सत्तावान् न॰ वह स्वयं सत्त्वशील है। वही जगत् में व्याप्त प्रकाश॰

दिव्य स्रोत है। उसकी ज्योति से ही सब को प्रकाश मिलता है। उसके वर्चस्व से ही सब वर्चस्वी हैं। साधक की प्रार्थना है कि प्रभो मुझे भी वही वर्चस्व दो। मुझे भी अपने तेज का अंश दो। मुझे भी सूर्य के समान वह प्रकाश दो, प्रखर तेज दो जिससे मैं अपने समाज के अन्धकार को दूर करके जीवन के उच्चतम सत्यों को प्रकाशित कर सकूँ।

सूर्य की यह विशेषता है कि वह अपने आवृत, अपने केन्द्र पर ही गतिशील रहता हुआ अन्य लोकों को प्रकाशित और अनुप्राणित करता है। सूर्य रातदिन अनवरत अपनी धुरी पर घूमता है। अपनी धुरी से कभी विचलित नहीं होता। साधक भी सूर्य समान अपनी धुरी पर ही घूमते हुए समाज में यशस्वी होने की कामना करता है।

साधना की सफलता का यही रहस्य होता है कि साधक अपने आत्मतत्त्व को पहचानकर उसे ही केन्द्र मानकर स्वाश्रित साधना करे। अपने प्रभु-निर्धारित स्थान को छोड़कर साधक स्थान भ्रष्ट हो जाता है। अपने गुणों तथा अपनी स्थिति के प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति ही दूसरों का श्रद्धापात्र बन सकता है।

साधक आत्मश्रद्धा के साथ पूर्ण मनोयोग से साधना करेगा तो उसकी आत्मा में सूर्य-समान तेजस्विता आ जायेगी और तभी वह अपने प्रखर प्रकाश से असंख्य दीपों को प्रज्वलित कर सकेगा। अपने तेजांश से जगत् को तेजस्वी बना सकेगा। अतः साधक के लिए स्वयं सत्त्वशील होना अपने 'आवृत' पर स्थिर रहना परम आवश्यक है।

६६

घृताचीस्थो धुर्यौ पातं सुम्नेऽस्थः सुम्ने मा धत्तम्। यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व स्विष्टे संतिष्ठस्व ।।

यजु० : २।१९

तुम (**घृताची स्थः, धुर्यौ स्थः**) स्नेह के जीवन रूपी रथ की धुरी हो। तुम (**मा सुम्ने पातं सुम्ने धत्तं**) मुझे, यज्ञ को, शान्ति और सम्पन्नता से सुरक्षित रखो। (**यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व**) यज्ञ सम्पादन में स्थित रहो (**मे सु-इष्टे संतिष्ठस्व**) मेरे सम्‌ अनुष्ठान में स्थिर रहो। साधक कहता है—(**यज्ञ ! ते नमः उप च**) यज्ञ ! तुझे नमस्कार हो, पुनः पुनः नमस्कार।

समस्त विश्व एक यज्ञ है। मनुष्य उस जीवन रूपी यज्ञ की धुरी पर स्थित है। यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करना मनुष्य का कर्तव्य है। वेदवाणी द्वारा ईश्वर मनुष्य को आदेश देता है कि तुम इस यज्ञाग्नि में घृत देकर अग्नि को प्रदीप्त करो। मनुष्य में भगवान् ने अपने देवत्व का अंश दिया है इसलिए ईश्वरीय यज्ञ के सम्पादन में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ होता बन सकता है और अपने ज्ञान से ज्ञानमय यज्ञ की ज्वाला को प्रदीप्त कर सकता है।

इस यज्ञ सम्पादन में केवल घृत अथवा सामग्री ही आवश्

नहीं—पूर्ण श्रद्धा की भी अनिवार्यता है। यज्ञाग्नि में घृतादि का समर्पण यदि श्रद्धा से न होगा तो अग्नि प्रदीप्त नहीं होगी। समिधा का प्रस्थापन और घृत का प्रक्षेप श्रद्धापूर्ण हृदय से होना चाहिए।

जीवन के प्रत्येक कार्य में यही नियम चरितार्थ होता है। केवल उपकरण ही पर्याप्त नहीं होते, उनका उपयोग करते हुए निष्ठापूर्ण मन भी आवश्यक है। अन्यथा उपकरणों की बहुलता या श्रेष्ठता से ही कोई कार्य सम्पन्न नहीं होगा। स्नेह और श्रद्धा का बड़ा महत्त्व है।

यज्ञानुष्ठान के सम्पन्न होने पर यज्ञ का आशीर्वाद पाना भी यज्ञ का ही एक भाग है। प्राणों की आहुति से ही यज्ञ प्राणवान् बनता है, और प्राण-प्रतिष्ठापन के बाद अधिष्ठातृ देव का आशीर्वाद भी प्राप्त होता है। वेदमाता की दृष्टि में कोई निष्प्राण नहीं। प्रत्येक यज्ञ में प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है अतः यज्ञफल स्वयं प्राणवान् होता है।

प्राणवन्त यज्ञ के प्रति मनुष्य का नतमस्तक होना भी स्वाभाविक है। श्रद्धा का यह आदान-प्रदान श्रद्धेय एवं श्रद्धालु दोनों को गौरवान्वित करता है। वैदिक जीवन-पद्धति और उपासना विधि की यही विशेषता है। वेद की दृष्टि में कोई भी अचेतन नहीं, और न उपेक्षणीय है। सभी श्रद्धा के पात्र हैं।

६७

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णो स्तुपोऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा ।।

यजु० : २।२।।

हे गृहयज्ञ ! (**अदित्यै व्युन्दनं**) आप अदिति सकल अभ्युदयों का अक्षय स्रोत हैं । आप (**विष्णोः स्तुपः असि**) व्यापक संरक्षक प्रभु की प्राप्ति का अमोघ स्थान हैं । (**देवेभ्यः त्वा ऊर्णम्रदसं सुआसस्थां स्तृणामि**) मैं दिव्यता की प्राप्ति के लिए इस सुख-स्थली गृह को उपलब्ध करता हूँ (**देवेभ्यः भुवपतये स्वाहा**) हम गृहस्थ भुवपति प्रभु के लिए समर्पित रहें (**भुवनपतये स्वाहा**) जगत्पति के प्रति समर्पित रहें (**भूतानां पतये स्वाहा**) समस्त प्राणियों के स्वामी के चरणों में समर्पित रहें ।

गृहस्थाश्रम की महिमा को स्पष्ट करते हुए पति-पत्नी दोनों गृह-देवता को संबोधन करते हुए कहते हैं—हे गृहस्थ देव ! आप सकल विश्व का सिंचन करते हो । आपके द्वारा ही पृथ्वी पर सरसता का संचार होता है । मानव-समाज की शोभा बढ़ती है । आपके ही पुण्य प्रताप से कला-कौशल, संस्कृति, सभ्यता, शालीनता का प्रसार होता है । गृहदेवता ही अन्य सब आश्रमों का पालन-पोषण करते हैं । सकल अभ्युदयों का आदि

स्रोत गृहस्थाश्रम ही है।

हे गृहस्थाश्रम ! आप विष्णु की प्राप्ति के शिखरस्थ साधन हो। पारिवारिक प्रेम की दिव्यता से ही प्रभु-प्रेम की प्राप्ति होती है। जो तन्मयता गृहस्थ प्रेम में होती है वही प्रभु-भक्ति में परिणत होती है। प्रेम का अंकुर गृहस्थाश्रम से ही अंकुरित होता है। यही प्रेम तत्त्व विविध स्थानों पर विविध नाम ले लेता है। दया, करुणा भक्ति, इसी के विभिन्न नाम हैं।

आध्यात्मिक साधना के लिए जिस पवित्रता, निष्ठा, संतोष, शान्ति, तृप्ति, संयम आदि गुणों की आवश्यकता होती है उनकी प्रथम उपलब्धि गृहस्थ में ही होती है।

गृहस्थ ही वह सुरम्य सरस मन्दिर है जहाँ गृहस्थ के सदस्य दिव्यताओं का सम्पादन करते हैं। इसलिए वेदमाता सभी गृहस्थों को आदेश देती है कि सब गृहस्थ-भुवपति-विश्वपति परमात्मा के प्रति समर्पित हों। समर्पण की गहराई का बोध गृहस्थ में ही होता है। पति-पत्नी का परस्पर समर्पण ही दोनों का विश्वपति के चरणों में समर्पित होने का साधन बन जाता है।

गृह जीवन की पूर्णता परमेश्वर के प्रति समर्पण-भावना में ही होती है। पति-पत्नी दोनों का लक्ष्य ईश्वर के प्रति समर्पित रहते हुए सामाजिक कल्याण की वद्धि करना है और श्रेष्ठ सन्तति द्वारा विश्व-संचालन में परमेश्वर को योग देना है। गृहयज्ञ विराट् विश्वयज्ञ का प्रमुख अंग है।

६८

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥

ऋक् : ८।४४।१

(**अग्नि समिधा दुवस्यत**) काष्ठ-समिधा द्वारा एवं जीवन-द्वारा होम की भौतिक अग्नि को और आत्माग्नि को प्रदीप्त करो। (**अतिथिं [अग्निं]**) आत्मा को (**घृतैः बोधयत**) सद्य प्रज्वलित हुताशन को प्रज्वलित करो और बोध प्राप्त करो। (**आस्मिन् हव्या जुहोतन**) इस यज्ञाग्नि में और आत्माग्नि में घृतादि की आहुति दो तथा भद्र चिन्तन, मनन को समर्पित करो।

प्रतिदिन सायं-प्रातः अग्निहोत्र करते हुए जब हम अग्नि-कुण्ड में काष्ठ-समिधा रखते हैं तो हमारी भावना होम की अग्नि को प्रदीप्त करने के साथ हृदयस्थ अग्नि आत्मा और विश्व-व्याप्त दिव्य अग्नि को प्रदीप्त करने की भी होनी चाहिए।

आत्मा भी इस देह-सदन का अतिथि है। कोई नहीं जानता आत्मा इस सदन में कब आयेगा, कब विदा हो जायेगा। सतत यात्रा करने वाले को भी अतिथि कहते हैं। जब तक वह अपने परम इष्ट ब्रह्म भाव को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक यात्रा करता रहता है। पूजनीय होने से भी वह अतिथि है।

वेद उसकी परिचर्या करने का आदेश देता है। समिधा द्वारा उसकी परिचर्या करनी होगी। समिधा का अभिप्राय अग्नि को प्रज्वलित करने के साधनों से है। भौतिक अग्नि को काष्ठ से प्रज्वलित किया जाता है और आत्माग्नि को जीवन के घृत से प्रदीप्त करना होगा। भौतिक अग्नि को समिधा पर घृत लगाकर अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। आत्माग्नि को आत्म-चिन्तन रूपी घृत से प्रबुद्ध करना चाहिए। प्रार्थना, स्तुति, उपासना से भी आत्माग्नि प्रबुद्ध होता है। सात्त्विक प्रवृत्तियों के व्यवहार से भी आत्मबोध जाग्रत् होता है।

यह भौतिक अग्नि की शक्ति है जो पेट्रोल में प्रविष्ट होकर वायुयानों का संचालन करती है। इसी तरह यह आत्माग्नि की शक्ति है जो शरीर का संचालन करती है। शरीर की समस्त इन्द्रियों को प्रेरणा देती है।

मानव-योनि सब योनियों में श्रेष्ठ है। इस योनि में ही यह सम्भव है कि आत्मा पूर्णता का सम्पादन करके परमपद की प्राप्ति कर सके। इसी दृष्टि से वेदमाता मानवमात्र को संदेश देती है कि भद्र चिन्तन, भद्र श्रवण, भद्र भाषण, भद्र भावना और भद्र संस्कारों की हवि देते हुए आत्माग्नि को निरन्तर प्रदीप्त रखो।

जो व्यक्ति देहस्थ अग्नि और विश्व व्याप्त परमात्म-अग्नि को ही प्रमुख मानते हैं और ध्यान धारणा द्वारा एकाग्र मन से तथा ज्ञान-सम्पादन द्वारा पूर्णतः प्रबुद्ध होकर सर्वपूज्य अग्नितत्त्व की आराधना करते हैं, उसके प्रति पूर्ण समर्पित होकर अपनी प्रवृत्तियों की हवि देते हैं वे सच्चे अर्थों में होम करते हैं। उन्हें दिव्यता प्राप्त होती है। उनका आत्मा पवित्र होता है और उन्हें ही भगवान् का आशीर्वाद मिलता है।

६९

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत ।
जुषस्व समिधो मम ।।

यजु० : ३।४।।

(**हर्यत अग्ने**) आत्मयज्ञ की हरणशील विशुद्ध आत्माग्नि (**मम हविष्मती: घृताची उपयन्तु**) मेरी परिष्कृत—प्रज्वलित इन्द्रिय समिधाएँ—ज्ञान, भक्ति आदि से युक्त इन्द्रियां (**त्वा उपयन्तु**) तेरे प्रति समर्पित हों। हे आत्माग्नि। (**त्वं जुषस्व**) तू मेरी हविष्मती समिधाओं को सेवन करके आत्मसात् करले।

साधक आत्माग्नि और विश्वात्मा के प्रति समर्पित होकर निवेदन करता है कि मैंने निरन्तर साधना द्वारा, ज्ञान-ध्यानद्वारा, अपने अन्तःकरण को पवित्र करने का यत्न किया है। अब उसमें विषय-वासना की मलिनता नहीं रही। वह कमनीय हो गया है। सुवासित हो गया है। मैंने इन्द्रियों को विकारहीन करने का पुरुषार्थ किया है। अब वे हविष्मती और घृताची हो गई हैं।

ज्ञान-ध्यान द्वारा परिष्कृत होकर तथा समर्पण भावना से युक्त होकर ही इन्द्रियां हविष्मती या आत्मयज्ञ में हवि देने योग्य होती हैं। बुद्धि भी समिधा है, मन भी आत्मा की समिधा है। बुद्धि रूपी समिधा शुभ चिन्तन द्वारा आत्मा को हवि पहुं-

चाती है। मनरूपी समिधा शिव संकल्पों की हवि से हविष्मान् होती है। इन समिधाओं का घृताची होना या घृत पहुँचाने वाली होना भी आवश्यक है। घृत का अभिप्राय आत्म-प्रबोध-साधनों का है। जिन स्निग्ध साधनों से आत्माग्नि के प्रकाश में वृद्धि होती है वे सब साधन आत्माग्नि के घृत हैं और जिन साधनों से विश्वयज्ञ की विराट्-अग्नि का संदीपन होता है वे सब विराट् आत्माग्नि की घृताची बनते हैं।

आत्माप्रेम, विश्वात्मप्रेम, उपासना, ध्यान, समाधि, स्वाध्याय—ये सब आत्माग्नि के प्रदीपक घृत हैं। यह घृत शुद्ध होना चाहिए। विशुद्ध हृदय की भावना से ही यह शुद्ध होता है, परिष्कृत होता है।

इस ऋचा में साधक विशुद्ध हृदय से विनय करता है कि हे आत्माग्नि ! कमनीय वन्दनीय, अग्ने ! मैं अपनी हविष्मती और घृताची समिधाओं को श्रद्धा से तुझे अर्पित कर रहा हूँ। तू इन्हें प्रेम से स्वीकार कर। साधक को विश्वास है कि उसका समर्पण भाव शुद्ध है, निःस्वार्थ है ज्ञान सम्पादित है। देह के हिरण्यमय कोश में स्थित आत्मा और परम ज्योतिर्मय परमात्मा इस समर्पण को अवश्य स्वीकार करेंगे। निश्छल प्रेम को भगवान् निश्चय ही आत्मसात् करते हैं। साधक को इस समर्पण के साथ ही भगवान् के सान्निध्य का अनुभव होता है। परानन्द की अनुभूति प्राप्त होती है।

७०

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥

यजु० : ३।५ ॥

(**भूः भुवः स्वः**) अपनी ब्राह्मी स्थिति में स्थित सत्, चित्, आनन्द गुणों से युक्त होकर मैं (**द्यौः इव भूम्ना**) दिव्य गुणों से युक्त अन्तरिक्ष सा विशाल हो गया हूँ । और (**पृथिवी इव वरिम्णा**) पृथिवी के समान वरणीय हो गया हूँ । यह सारा संसार (**अन्नादं**) भक्षणशील है (**पृथिवि देवयजनि**) पृथिवी ही सदा देवयज्ञ करती है, निरंतर दान देती है । (**तस्याः ते पृष्ठे**) मेरी कामना है कि मैं हे पृथिवि ! तेरी पृष्ठ पर बैठकर (**अन्नाद्याय अन्न-अदम् अग्निः**) अन्न भक्षणार्थ अन्नभक्षक अग्नि का (**आदधे**) आधान करूं ।

सत् का अंश होने से मनुष्य शरीर 'भूः' है । चेतन होने से आत्मा 'भुवः'—चित् है और साधना द्वारा भगवान् के आनन्द का अंश प्राप्त होने पर वह अंश रूप से 'स्वः' कहलाने का अधिकारी भी बन जाता है । परम प्रभु में तीनों गुण हैं—अतः वह सर्वांश में सच्चिदानन्द है ।

ब्रह्मानन्द प्राप्त होने के बाद जीवात्मा भी परमात्मा से प्रार्थना करता है कि अब, जब कि मैंने ब्राह्मी स्थिति प्राप्त

कर ली है, मैं भी अन्तरिक्ष सा विशाल और प्रकाशित होता है। मनुष्य का अन्तःकरण भी ज्ञान से प्रकाशित होता है। श्रद्धा पूर्वक प्राप्त ज्ञान मनुष्य के अन्तःकरण को प्रकाशित करता, दिव्य बनाता है। साधक हृदय को दिव्य सम्पदा से युक्त बनाने के साथ पृथिवी की तरह वरणीय बनने की भी प्रार्थना करता है।

पृथिवी की वरीयता अद्‌भुत है। वह ममतामयी है। सब प्राणियों तथा अचेतन पदार्थों को वह अपने ऊपर सहारती है। सब को अन्न देकर उनका पालन पोषण करती है। पृथिवी देवयजनी है। वह दिव्य यजन करने वाली है। यज्ञ में तीन भावनाएं युक्त है। सत्कार संगीतकरण एवं दान। पृथ्वी तीनों भवनाओं से युक्त है, वह सबका सत्कार करती है, सबको सादर गोद में बिठाती है, सबके अनुकूल वनकर सबकी संगति में आनन्दित होती है। सबको दान करती है। अपने सर्वस्व दान से सब को जीवन देती है। पृथ्वी ही सच्चा देवयजन कर रही है।

साधक की प्रार्थना है कि वह अन्तरिक्ष की तरह विशाल हो, पृथिवी की तरह वरणीय हो और पृथिवी की गोद में बैठकर वैसा ही देवयजन करे जैसा पृथिवी कर रही है। वह प्रार्थना करते हुए संकल्प करता है कि मैं देवयजन करता हुआ सब को अन्न देने का पुरुषार्थ करूंगा और आध्यात्मिक सम्पदा देने के लिए तपस्या करूंगा। परमप्रभु सच्चिदानन्द को सम्बोधन करके भी वह विनय करता है, कि—मैंने द्युलोक और पृथ्वीलोक से जो भी भौतिक एवं दैवी सम्पदाएं प्राप्त की हैं उन्हें विश्वकल्याण के लिए समर्पित कर दूँगा।

७१

त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते।
प्रतिवस्तोरह द्युभिः॥

यजु० : ३।८॥

वह आत्मदीप ज्ञानी (**द्युभिः**) दीप्तियों से दिव्यताओं से (**त्रिंशद्धाम विराजति**) तीसों धामों में विराज रहा है, प्रकाशित कर रहा है। (**अह वस्तोः वाक्**) अब उस ज्योतिपुंज की वाणी (**पतङ्गाय प्रति धीयते**) आत्मा के प्रति मुखरित होती है।

साधक जब पूर्ण साधना द्वारा आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त कर लेता है तो उसके लिए सब धाम प्रकाशित हो जाते हैं। आत्मदीप के जलने पर उसके देहस्थ अधिष्ठानों में भी प्रकाश हो जाता है एवं बाह्य जगत् के धाम भी ज्योतिर्मय हो जाते हैं।

विराट् जगत् में अनन्त धाम हैं। पृथिवी और अन्तरिक्ष के सब धामों, सब अधिष्ठानों का ज्ञान अल्पज्ञानी जीव को नहीं हो पाता। किन्तु श्रद्धापूर्वक साधना करने के बाद उन ज्योतिर्धामों की अनुभूति हृदय में होने लगती है जिन्हें वैज्ञानिक विज्ञान के साधनों से जानने का यत्न कर रहा है।

जिस योगी के ज्ञान-चक्षु पूरी तरह खुल जाते हैं उसे उन परोक्ष स्थानों की ज्योति के दर्शन भी होने लगते हैं जो सामान्य व्यक्ति के लिए तिरोहित रहते हैं। उसकी योग-दृष्टि

से अन्तःस्थ धामों का ज्ञान भी छुपा नहीं रहता।

अन्तःस्थ धामों में से कुछ ये हैं। ब्रह्मधाम कपाल में हैं। इसे ब्रह्मचक्र भी कहते हैं। यह प्रज्ञा का केन्द्र है। ब्रह्म-ज्ञानोदय होने से स्थितप्रज्ञता की सिद्धि होती है। तेजोधाम भृकुटियों के मध्य में है। इसे आज्ञाचक्र कहा जाता है। ओजोधाम नासिका के मूल में है। इसे जीवनचक्र भी कहते हैं। यह ओज का केन्द्र है।

विशुद्धधाम या विशुद्धचक्र कण्ठ के मूल में है। आनन्दधाम या अनाहतचक्र हृदय में है। इसके प्रकाशित होने पर आनन्द-वृत्ति की सिद्धि होती है। दक्षधाम या मनीपुरचक्र नाभि में है। यह शक्ति का केन्द्र है। इसके सिद्ध होने पर सहनशक्ति और दक्षता की प्राप्ति होती है। वीर्यधाम या स्वाधिष्ठान चक्र उपस्थ में है—इसके सिद्ध होने पर पुरुषार्थ, पराक्रम एवं संयम की प्राप्ति होती है। कुण्डलिनी धाम का स्थान मेरुदण्ड के मूल में है। इसके सिद्ध होने पर सर्वत्र दिव्य प्रकाश के स्रोत खुल जाते हैं।

यही धाम विराट् पुरुष के व्यापक देह में भी है। विराट् की ज्योति ही देहधारी पुरुष के ज्योतिकेन्द्रों में प्रतिबिम्बित होती है। साधक को जब सतत साधना से इन दिव्यधामों की सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब उसके सब धाम जगमगा उठते हैं और उस समय वह देह बुद्धि छोड़कर स्वयं ज्योतिर्धाम बन जाता है। उसकी वाणी भी ज्योतिर्मय हो जाती है। दीप-शिखा बनकर वह समस्त विश्व के दीपों को प्रज्वलित करती है।

७२

उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।
आरे अस्मे च शृण्वते।

यजु० : ३।११ ॥

हम (**आरे च**) दूर और पास (**अस्मे शृण्वते**) हमारे हृदय की बात सुनने वाले (**आग्नये**) परमेश्वर के लिए (**उपप्रयन्तः**) पहुँचने वाल (**अध्वरं मन्त्रं**) सरल-स्वाभाविक मन्त्र-वाणी (**वोचेम**) बोलें।

साधक की यह भावना है कि वह अपनी वाणी से जो भी कहे वह मन्त्र-वाणी हो, वह केवल शब्दों का समूह न हो बल्कि आत्मगत भावों की पवित्र वाणी हो। आत्मा की भावना को व्यक्त करने वाली वाणी ही मन्त्र है।

परम ब्रह्म सबकी वाणी सुनते हैं। वह जिह्वा की वाणी को भी सुनते हैं और मन की वाणी को भी। उनसे विनय करने के लिए शब्दोच्चार की भी आवश्यकता नहीं होती। वह तो मन में संकल्प रूप से प्रस्फुटित होने वाली मौन वाणी को भी सुन लेते हैं। उनके श्रवण के लिए भावना को शब्दों में व्यक्त होने की अनिवार्यता नहीं।

वेदवाणी भी ऐसी ही मन्त्रवाणी है और यह आत्मा में प्रस्फुटित होती है। उसे कहने-सुनने वाले की दूरी और

समीपता में कोई अन्तर नहीं होता। दूरी केवल अज्ञान की है और समीपता ज्ञान के बाद होती है।

मन्त्र-वाणी को भगवान् अवश्य सुनते हैं। किन्तु शर्त यह है कि वक्ता या साधक उसे अध्वर भावना से—निश्छल भावना से बोले। अर्थात् जब मन्त्रों की ध्वनि हो तो वह ध्वनि वक्ता के मुख से ही नहीं हृदय से निकलनी चाहिए। जब मन्त्रोच्चार द्वारा यह कहा जाये कि हम प्रभु को समर्पित होते हैं तो समर्पण-भावना हृदय में होनी चाहिए। अन्यथा यह उच्चारण छलपूर्ण हो जायेगा। सर्वव्यापी सर्वज्ञ भगवान् से छल नहीं किया जा सकता।

समर्पित होकर मन्त्रप्रवक्ता जब प्रभु-चरणों में जायेगा तो उसे प्रभु का आश्रय अवश्य मिलेगा। उस आश्रय से आत्म-समर्पक को निर्भय होने की प्रतीति भी अवश्य होगी। यदि यह प्रतीति नहीं हुई तो समझना चाहिए कि समर्पण सर्वतः निश्छल भावना से नहीं किया गया।

केवल औपचारिकता की रक्षा करने के लिए किये गये मन्त्र-पाठ का प्रभाव बहुत कम होता है। हम प्रायः जिह्वा से ही मन्त्र-पाठ करते हैं, हृदय से नहीं। इसीलिए उस पाठ का विशेष प्रभाव नहीं होता। हृदय से पाठ करने के लिए मन्त्र का अर्थ जानना भी आवश्यक है। अर्थ जाने बिना मन्त्र हृदयंगम नहीं होता।

७३

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या
उभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारा विषां रयीणाम्
उभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ।।

यजु० : ३।१३॥

मैं साधक (उभौ इन्द्राग्नी आहुवध्यै हुवे) तुम दोनों—इन्द्र और अग्नि—का सहायता के लिये आह्वान करता हूँ। तुम दोनों (इषां रयीणां दातारौ) अभिलषित ऐश्वर्यों के दाता हो। (वाम् उभा वाजस्य सातये हुवे) तुम दोनों को भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए पुकारता हूँ।

आध्यात्मिक और भौतिक सम्पदा, दोनों की प्राप्ति के लिए साधक इन्द्र और अग्नि दोनों दिव्य शक्तियों का आह्वान करता है। इन्द्र के आह्वान से सूर्य, वरुण, वायु आदि भौतिक शक्तियों के देवता को संबोधन करने का संकेत मिलता है। विराट् विश्वयज्ञ का भौतिक अधिष्ठाता सूर्य है और आध्यात्म जगत् का ज्योतिर्मय अधिष्ठाता ब्रह्म है।

सूर्य का अग्नितत्त्व भी वही है जो अन्य चन्द्र, वरुण, वायु आदि में है। इन सब की शासक ब्रह्माग्नि है। उसी सर्वव्यापक अग्रणी अग्नि के अधीन सब देवता अपने निर्धारित मार्ग का

अनुसरण कर रहे हैं।

भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए सौर जगत् की ऊर्जा का अवलम्ब आवश्यक है। हमारी पृथिवी जिस सूर्य की प्रदक्षिणा करती है उस सूर्य की शक्ति का उपयोग करके ही हम जीवन की सुख-सुविधाएँ जुटाते हैं।

किन्तु इन भौतिक सुख सुविधाओं से ही जीवन की समृद्धि नहीं बढ़ती। समस्त पार्थिव सुखों से सम्पन्न होते हुए भी मनुष्य दुखी रहेगा यदि उसे विराट् पुरुष का वरदान प्राप्त न होगा। इसलिए उस आत्माग्नि के आह्वान की भी आवश्यकता है।

आह्वान करने वाला साधक घोषित करता है कि वह ब्रह्माग्नि के प्रति समर्पित होने वाला 'सुहुत' आत्मसाधक है। सुहुत समर्पित होना सरल नहीं है। अपने सर्वस्व को समर्पित कर देने वाला ही यह कह सकता है। इस समर्पण के लिए जो आत्मबल चाहिए वह भी परम ब्रह्म की कृपा से ही प्राप्त होता है। उसकी कृपा पाये बिना कोई साधक सच्चे हृदय से समर्पण नहीं कर सकता। यह समर्पण-भावना केवल 'सिद्धि' से नहीं 'संसिद्धि' से प्राप्त होती है। 'राधसा' का अभिप्राय है 'संसिद्धि'। संसिद्धि से ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

७४

तनूपा अग्नेऽ सि तन्वं मे पाहि
आयुर्दा अग्नेऽ स्यायुर्मे देहि
वर्चोदा अग्नेऽ सि वर्चो मे देहि
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मऽआपृण ॥

यजु० : ३।१७॥

(हे अग्ने तनूपा असि) हे ब्रह्माग्नि तू जीवन-रक्षक है। (मे तन्वं पाहि) मेरे जीवन की रक्षा कर। तू (आयु दाः असि) दीर्घ जीवन प्रदाता है। (मे आयुः देहि) मुझे दीर्घायु कर। (अग्ने वर्चः दाः असि) हे अग्ने ! तू वर्च प्रदाता है, मुझे अपने वर्च से वर्चस्वी कर। (मे तन्वाः यत् ऊनं तत् आपृण) मेरे जीवन में जो न्यूनत्व है उसे पूर दे।

अग्नि पवित्र करने वाला है। सोना जब आग में तपता है तो कुन्दन बन जाता है। ब्रह्माग्नि अन्य सब अग्नियों से अधिक पावक है। साधक जब पूरी भावना से ब्रह्माग्नि के समर्पित हो जाता है तो उसका जीवन निर्दोष और निष्पाप बन जाता है। ब्रह्माग्नि में तपे बिना मनुष्य का जीवन निर्दोष नहीं बनता।

समर्पण की इसी भावना के साथ साधक विनय करता है— हे पवित्र विश्वाग्नि ! तुम जीवन-रक्षक हो, जीवन के दोषों को

जलाकर उसकी रक्षा करने वाले हो, मेरे जीवन की रक्षा करो। साधक की इच्छा होती है कि वह चिरकाल तक जीवन धारण करके ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करे। इसी भाव से वह निवेदन करता है—हे परम पावन देव! तुम आयु देने वाले हो, मुझे दीर्घ आयु दो। निर्मल निर्दोष जीवन दीर्घजीवी होता है। मनुष्य मन की वासनाएं और भोगों की लालसा अतिशय भोग की तृप्ति-कामना जीवन को क्षीण कर देती हैं। संयम तथा दोषमुक्त व्यवहार से जीवन संपुष्ट और सुरक्षित रहता है।

साधक की यह कामना भी होती है कि वह केवल दीर्घायु ही प्राप्त करके संतोष न मान ले, बल्कि जब तक जीवित रहे वर्चस्वी, तेजस्वी बनकर रहे। जैसे स्वर्ण अग्नि में तपकर चमकदार होता है, वैसे ही मनुष्य भी ब्रह्माग्नि में तपकर ब्रह्मतेज से चमकता है। इसीलिए वह प्रार्थना करता है हे अग्ने, तू 'वर्चस्व' देने वाला है, मुझे भी अपने वर्चस्व से वर्चस्वी बना।

साधक अपनी न्यूनताओं की पूर्ति के लिए भी अग्नि से प्रार्थना करता है। मनुष्य कितना ही तेजस्वी हो जाये अपूर्ण रहता है। वह सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता, पूर्णतः तेजस्वी नहीं बन सकता। साधना के चरम शिखर पर पहुंचने वाला योगी भी पूर्ण पुरुष नहीं बन सकता। वह अपूर्ण ही रहेगा। इस अपूर्णता की पूर्ति केवल ब्रह्मतेज से ही संभव है। मनुष्य के अन्तर्विकास से वह कभी दूर नहीं हो सकती। इसीलिए साधक को प्रतिक्षण भगवान् से अपनी न्यूनताओं की पूर्ति के लिए भगवत्कृपा का आश्रय लेना पड़ता है।

७५

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीय ।
ऊर्जं स्थोर्जं वो भक्षीय, रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥

यजु : ३।२० ॥

(**ग्रन्ध स्थ वः ग्रन्धः भक्षीय**) हे दैवी सम्पदाओ । तुम मेरी साधना के सुफल हो । तुम्हारे सुफल का सदा सेवन करूं (**महः स्थ, वः महः भक्षीय**) तुम महत्त्वशाली हो, तेजस्वी हो, तुम्हारे तेज का मैं सेवन करूं (**ऊर्जः स्थ वः ऊर्जं भक्षीय**) तुम वीर्यवान् हो, मैं तुम्हारे ब्रह्म ऊर्ज का सेवन करता रहूं । (**रायः पोषस्य**) तुम ऐश्वर्य को पुष्ट करते हो, (**वः रायः पोषं भक्षीय**) मैं तुम्हारी पुष्टि को ग्रात्मना सेवन करूं ।

हम दैवी सम्पदाग्रो के सम्मुख रहते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्राकाश, जल, वायु से ही हम प्राण, प्रकाश और भरण-पोषण पाते हैं। उनकी कृपा पाते हुए हम प्रायः उनके प्रति धन्यवाद व्यक्त नहीं करते। उनकी महानता की भी उपेक्षा कर देते हैं । इसी-लिए हमारा पूरा मानसिक विकास नहीं हो पाता । हमें उनकी समीपता का पूरा फल नहीं मिल पाता ।

दैवी सम्पदाग्रों के प्रति विनम्र होकर प्रार्थना की जाये तो हमारे हृदय के द्वार खुल जायेंगे । हमें अपनी तपस्या, श्रद्धा ग्रौर ज्ञान का ग्रौर भी ग्रधिक हर्षदायक फल प्राप्त होगा।

दैवी सम्पदाएं 'अन्धस्थ' और 'अन्धभक्षीय' हैं, इस वेदवाक्य का अर्थ है कि दैवी शक्तियां विश्वयज्ञ की हवि ग्रहण करती हैं और 'हवि' मय होती हैं। भगवान् स्वयं यह विश्वयज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञ में वह इन दैवी शक्तियों की ही हवि देते हैं। इस हविदान से ये सम्पदाएं और भी तेजस्विनी और महिमामयी हो जाती हैं।

इनकी महिमा और विशालता देखकर मनुष्य का मन भी विशाल होना सीखता है। सागर की विशालता, आकाश की अनन्तता, पर्वतों की ऊँचाई, नदियों का प्रवाह देखकर मनुष्य के हृदय में भी विराट् होने के भावों का उदय होता है। वह संसारी व्यवहारों की संकीर्णता से उभरकर महान् बनने के स्वप्न लेता है।

दैवी सम्पदाओं के अनन्त वीर्यवान् होने की अनुभूति भी मनुष्य को वीर्यवान् होने की प्रेरणा देती है। उनकी निरन्तर गतिशीलता और ओजस्विता देखकर मनुष्य श्रमशील और ओजस्वी बनने की धारणा बनाता है।

प्रकृति की इन महाशक्तियों का स्रोत स्वयं परम प्रभु है। किन्तु परम प्रभु की अनन्त शक्तियों का मूर्तरूप इन महाशक्तियों द्वारा ही प्रकट होता है। इन शक्तियों के समीप प्रार्थी बनकर उपस्थित होने से मनुष्य भी इन शक्तियों का अंश ग्रहण कर सकता है। हम भी इन दिव्य सम्पदाओं के समान विशाल, वीर्यवान्, तेजस्वी और पोषक बन सकते हैं।

७६

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य ।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ।।

यजु० : ३।३०

हे ब्रह्मणस्पते ! (**अररुषः मर्त्यस्य**) धूर्त और कुटिल मनुष्य की (**धूर्तिः प्रणक्**) धूर्तता नष्ट हो जाये। (**न संश मा**) [पृणक्] हमारा यश नष्ट न हो।

साधकों के जीवन में जो दिव्यताएं समाज के सामने आते हैं और यश मिलता है उससे धूर्त मनुष्यों के मन में ईर्ष्या के भाव जाग जाते हैं। धूर्त लोगों में इतनी क्षमता तो होती नहीं कि वे अपने पुरुषार्थ से साधकों के यश को फीका बना दें या उनसे आगे निकल जायें। अतः अपने को ऊंचा उठाने के यत्न में वे साधनाशील सात्त्विक वृत्ति के लोगों को नीचे गिराने की कोशिश करते हैं।

इस धूर्तता पूर्ण यत्न में उन्हें जब सफलता नहीं मिलती तो वे धूर्तता का जाल बिछाकर साधना भंग करने की कोशिश करते हैं। उन्हें विश्वास होता है कि वे अपनी कुटिल चालों से सच्चे सरल साधकों को बदनाम करने में सफल हो जायेंगे।

साधु प्रकृति के व्यक्ति धूर्तों की इन चालों को समझते हुए भी उनका प्रतीकार धूर्तता से नहीं करते। साधु स्वभाव का

व्यक्ति अपनी साधुता का त्याग नहीं करता। उसे ठगा जाना सह्य है किन्तु ठगने का यत्न करना अभीष्ट नहीं। साधु साधक किसी भी स्थिति में अत्यन्त संकट उपस्थित होने पर भी हृदय में कुटिलता या नीचता के भाव नहीं आने देता।

धूर्त के प्रति धूर्तता और शठ के प्रति शठता करने की नीति उसके स्वभाव के अनुकूल नहीं बैठती। अपनी साधना पर वे किसी भी प्रकार का कलंक नहीं आने देना चाहते। बड़े से बड़ा कष्ट और अपयश सहकर भी वे मन में धूर्त के प्रति विद्वेष की भावना नहीं बनाते। उनकी यही प्रार्थना होती है— "नः शंसः मा पृणक्" साधना द्वारा अर्जित हमारा यश नष्ट न हो। अपने यश की रक्षा करने के लिए उनका मन अधिक से अधिक शारीरिक या मानसिक वेदना को हंसते हंसते झेल जाता है।

साधुजन अपने से विद्वेषवश धूर्तता करने वाले शठ व्यक्ति को हानि पहुँचाने का भी विचार नहीं करते। वे व्यक्तिगत राग द्वेष से ऊपर उठ चुके होते हैं। इसलिए उनकी प्रार्थना यही रहती है:—अररुषो मर्त्यस्य धूर्तिः पृणक्। धूर्त व्यक्ति की धूर्तता नष्ट हो जाये।

धूर्त को नष्ट करने की भावना उनके मन में नहीं आती। वे केवल उसकी धूर्तता के लुप्त होने की कामना करते हैं। वे हृदय से यही प्रार्थना करते हैं कि धूर्त आदमी भी अपनी धूर्तता छोड़कर सच्चा सरल बन जाये।

७७

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

ऋक् : ३।६२।१० ।। यजु० : २२।६ ।। साम : ६।३।१।

हम (**देवस्य सवितुः**) अक्षय ज्योति के स्रोत प्रभु के (**तत् वरेण्यं भर्गः**) उस दिव्य प्रकाश को (**धीमहि**) ध्यान द्वारा धारण करें। (**यः नः धियः प्रचोदयात्**) जो प्रकाश हमारी धारणाओं को दिव्य बनाये, ज्योतिष्मान् बनाये।

यह गायत्री मन्त्र मनुष्य को दिव्य बनाने का बीज मन्त्र है। देव सविता दिव्यताओं का पुंज वह ब्रह्म सूर्य है, सूर्यों का सूर्य है जो एक ब्रह्माण्ड को ही नहीं सकल ब्रह्माण्डों को प्रकाशित करता है। उस दिव्यतम सूर्य के, ब्रह्म के वरणीय तेज को ध्यान द्वारा धारण करने का आदेश मन्त्र में दिया गया है।

धारणाएं आठ हैं—संकल्प, चिति, चिन्तन, दृष्टि, श्रुति, संस्पृष्टि, गन्ध और रसन।

ध्यान जिसका भी किया जायेगा वही हृदय में व्याप्त हो जायेगा। प्रभु की ज्योति पर ध्यान केन्द्रित किया जायेगा तो मनुष्य का हृदय ज्योतिर्मय होगा। साधकों को देव सविता के दिव्य प्रकाश का निरन्तर ध्यान करना होता है। ऐसा करने से साधक के जीवन में देव सविता के दिव्य प्रकाश का संचार

होता है; ठीक उसी प्रकार जैसे अग्निज्वाला में प्रविष्ट कोयलों में अग्नि-संचार होता है। अग्नि के संचार से जैसे कोयले अग्निमय हो जाते हैं वैसे ही देव सविता के ध्यान से साधक का जीवन नितान्त प्रकाशित हो जाता है। उनका आत्मा दिव्य प्रकाश के अक्षय भंडार से संयुक्त हो जाता है।

ऐसा होने पर साधक के जीवन में उसकी धारणाओं में निरंतर अन्त:प्रेरणा द्वारा अक्षय ज्योतियां संप्राप्त होती रहती हैं।

इस रहस्य को समझते हुए साधक गायत्री द्वारा घोषित करता है—हम सविता देव के उस दिव्य प्रकाश का ध्यान धारण करें जो हमारी धारणाओं को दिव्य बनाये—ज्योतिष्मान् बनाये।

परमप्रभु की ज्योति को आत्मसात् करने का गुरुमन्त्र इस में दिया गया है। दिव्यता पाना ही जीवन का लक्ष्य है। लक्ष्य प्राप्ति का इससे अधिक सरल मार्ग और कोई नहीं कि साधक इस मन्त्र का मनन करे। इस मन्त्र का श्रद्धापूर्वक जाप मनुष्य को मनुष्य की श्रेणी से ऊपर उठा देवता की कोटि में ले जाता है।

७८

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां,
सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ।
नर्य प्रजां मे पाहि, शंस्य पशून् मे पाहि,
अथर्य पितुं मे पाहि ।।

यजु० : ३।३७।

हे सच्चिदानन्द प्रभो ! मैं (**प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम्**) मेरी सन्तान श्रेष्ठ सन्तान हो। (**वीरैः सुवीरः स्याम्**) वीरोचित गुणों से वीर्यवान् हो। (**पोषैः सुपोषः स्याम्**) शरीर को पुष्ट करने वाले पोषक गुणों से सम्पन्न हो। हे (**नर्य ! मे प्रजां पाहिः**) अन्तः प्रेरक प्रभो ! ऐसी अन्तः प्रेरणा कर कि मेरी प्रजा सुसंस्कार युक्त हो (**शंस्य पशून् मे पाहि**) हे आराध्य ! मेरी पशुसम्पदा की रक्षा कर (**अथर्य मे पितुं पाहि**) हे अविचल परमेश्वर मेरा अन्न, भोजन रोगमुक्त हो।

साधक की साधना विफल हो जाती है यदि उसकी सन्तान श्रेष्ठ न हो। साधना के प्रभाव से यदि सन्तान संस्कारी न बने, उसकी रुचि सात्त्विक कार्यों की ओर न हो तो साधना प्रभावहीन मानी जायगी। उसके निर्दोष होने में संदेह होगा।

अतः साधक सन्तान के स्वस्थ, साहसी, और संयमी होने की प्रार्थना करता है। सन्तान अपने प्राचीन जन्म के संस्कारों

से भी प्रभावित होती है। सामाजिक परिस्थितियों से भी उसका व्यवहार बनता है। इन सब पर केवल जन्म देने वाले पिता का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसीलिए वह सन्तान की श्रेष्ठता के लिए प्रभु की शरण जाता है।

श्रेष्ठता केवल सात्त्विक भावना या उपासना से नहीं आती। संसार में सफल होने के लिए सत्साहस और वीरता की भी आवश्यकता है। तभी वह प्रार्थना करता है—वीरैः सुवीरः स्याम्—मैं वीरों में सुवीर बनूँ। पराक्रम की ही नहीं श्रेष्ठ पराक्रम की प्रार्थना करता है वह। श्रेष्ठ पराक्रम वही है जो सत्य और न्यायपूर्ण लक्ष्य के लिए किया जाये। दुर्लक्षित पराक्रम हिंसा में बदल जाता है।

केवल वीरता भी पर्याप्त नहीं होती। बिना संपुष्ट देह के वीरता का कोई मूल्य नहीं। तभी साधक प्रार्थना करता है, पोषैः सुपोषः स्याम्—नीरोग और बलशाली देह भी उतना ही आवश्यक है जितना मानसिक बल। साधक साधन सम्पन्न बनने के लिए 'पशून् मे पाहि, पितुं मे पाहि'—प्रार्थनाएँ भी करता है। पशुसम्पदा और अन्न-सम्पदा को वेद में बहुत उत्कृष्ट माना गया है। अन्न-सम्पदा के विना औद्योगिक सम्पदा का मूल्य नहीं रहता। भोग-विलास की वस्तुओं की गणना श्रेष्ठ सम्पत्ति में नहीं की गई वास्तविक सम्पदा चरित्र, स्वास्थ्य और सबल शरीर की ही मानी गई है।

प्रार्थना करते हुए साधक अपनी सन्तान में इन गुणों के उत्कर्ष के लिए कार्य करने का संकल्प भी करता है। वेदवाणी का यह संदेह सदैव स्मरणीय है कि अपनी उन्नति के साथ अपनी सन्तान की उन्नति का भी संकल्प करो। सन्तान श्रेष्ठ न हुई तो साधक की श्रेष्ठता सन्दिग्ध रह जायेगी।

७६

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥

यजु० : ३।४५

(**वयं यत् एनः ग्रामे चकृम**) गांव—नगर या बस्ती में जो पाप करते रहे (**अरण्ये यत् एनः चकृम**) एकान्त वन – उपवन में जो पाप करते रहे (**सभायाम्—इन्द्रिये**) सभाओं के जनसमूह में अथवा अकेले अपनी इन्द्रियों के साथ जो अभद्र व्यवहार करते रहे (**तत् वयम् अवयजामहे**) वह सब हम यज्ञ-भावना से अवज्ञा की (**स्वाहा**) अग्नि के अर्पित करते हैं—आहुत करते हैं।

कोई कितना ही श्रेष्ठ हो, वह पूर्ण नहीं होता। श्रेष्ठ श्रेष्ठ साधकों से भी श्रेष्ठतम होने से पूर्व अशुभ चिन्तन और अभद्र व्यवहार हो जाते हैं। विचार प्रायः एकान्त में होते और व्यवहार सामाजिक स्थान पर, वेद में दोनों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

साधक प्रभु को साक्षी रखकर निवेदन करता है कि उसने एकान्त में जो अशुभ विचार किये हैं और शुभाशुभ का विवेक होते हुए भी क्षणिक उत्तेजन प्राप्त करने के लिए पापपूर्ण कृत्य किये हैं उन्हें वह यज्ञाग्नि के अर्पित करता है।

सामाजिक क्षेत्र में किये गये दुर्व्यवहारों के प्रति प्रायश्चि

भावना रखते हुए वह उन्हें भी यज्ञाग्नि में दग्ध करने को अर्पित करता है। अर्पित करने का अर्थ है उनका सदा के लिए परित्याग करता है।

यज्ञ भी दो तरह के होते हैं। उत्-यजन या उत्कृष्ट यज्ञ वह है जिसमें उत्तम सामग्री घृत आदि की आहुति दी जाती है। उसके प्रभाव से जलवायु का शोधन होता है। दूसरे प्रकार का यज्ञ—अवयजन होता है। इसमें विषैले पदार्थों को जलाकर भस्म किया जाता है। इससे रोगों के कीटाणुओं का नाश होता है। अन्त्येष्टि क्रिया भी अवयज्ञ है, क्योंकि इसमें मृत देह जलाई जाती है।

उत्तम व्रतों का धारण उत्-यज्ञ कहलाता है, दुरितों के त्याग का यज्ञ अवयज्ञ नाम से विख्यात है।

साधक को दोनों प्रकार के यज्ञ करने चाहिएं। इस मन्त्र में अवयज्ञ का विधान है। प्रत्यक्ष या परोक्ष में किये गये सब पापों को भस्म करने के लिए ही यह यज्ञ होता है। काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि प्रवृत्तियों के वश में होकर साधक जो पापकृत्य करता है उनके परित्याग का दृढ़ व्रत लेना भी एक यज्ञ है। परित्याग करने से पूर्व यह स्वीकार करना होता है कि साधक ने पाप-कृत्य किये थे। अपराध स्वीकृति के बिना प्रायश्चित्त नहीं होता। साधक की साधना में इस यज्ञ का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके बिना साधना पूरी नहीं हो सकती।

८०

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत ।
वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्ज शतक्रतो ।।

यजु० : ३।४९॥

हे प्रभो ! (**दर्वि परापत**) मेरा जीवन पात्र पुनः पुनः भरे और दान द्वारा रिक्त हो (**सुपूर्णा पुनरापत**) पुनः श्रेष्ठताओं से आपूर्यमाण हो और पुनः परिपूर्ण प्रदान हो जाये । हे (**शतक्रतो**) असंख्य कर्मों के विधायक ! हमें (**वस्ना इव**) धन सम्पत्ति दान के समान (**इषम् ऊर्ज**) अपनी क्षमताओं और प्रेरणा तत्त्वों का भी (**विक्रीणावहै**) विनिमय करे, आदान-प्रदान करे ।

दिव्य साधना के मार्ग पर चलते हुए साधक का हृदय अनेक दिव्यताओं से भर जाता है । उसे दिव्य आनन्द की अनुभूतियां होती हैं । उसके व्यवहार में स्वयं अनेक गुणों का प्रकाश हो जाता है । इस दिव्य सम्पदा से उसका जो पात्र भर जाता है—उसी हृदयपात्र का नाम 'दर्वी' है । दर्वी उस पात्र का नाम भी है जिसे हम बार-बार भरकर उसकी वस्तु को दूसरे पात्र में डालते हैं । जिस चमस् में पुनः पुनः घृत भर कर अग्निकुण्ड में आहुत किया जाता है वह भी दर्वी कहलाता है ।

'दर्वी' पात्र का यह गुण है कि वह जो संचित करता है

उसे लेकर अपने पास रखने के लिए नहीं अपितु देने के लिए करता है। इसीलिए साधक इस वेदवाणी द्वारा अपने जीवन को दर्वी तुल्य बनाने का संकल्प करता है। वह व्रत लेता है कि मेरा जीवन-पात्र दिव्यगुणों से बार बार पूर्ण हो और मैं बार बार उनका वितरण करने योग्य बनूं। वितरण करने से वह रिक्त नहीं हो। बल्कि और भी पूरी तरह भर जाता है। सभी श्रेष्ठ दानों की यह विशेषता है कि उनके दान से दानी का पात्र और भी अधिक भरता है। इसी से वह पूर्ण ही नहीं सुपूर्ण हो जाता है।

साधक प्रार्थना करता है—हे शतक्रतो, हे असंख्य कर्मों के कर्ता प्रभो ! हम अपने शुभ संकल्पों और कार्यों का भी समाज में उसी प्रकार आदान-प्रदान करते रहें जैसे धन-द्रव्य का होता है। जिसके पास जो श्रेष्ठ द्रव्य होता है वह उसका कुछ भाग देकर दूसरे से उसके श्रेष्ठ द्रव्य का भाग लेता है। इस विनिमय से ही समाज सम्पन्न होता है।

आध्यात्मिक जगत् में इस प्रकार का विनिमय बहुत आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र के विचार में श्रेष्ठ नहीं होता। सब अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव तथा परिस्थितियों के अनुसार ज्ञान का संचय करते हैं। यदि वे उसका विनिमय विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों से न करें तो उनका ज्ञान एकांगी रह जायेगा। उसमें असन्तुलन हो जायेगा। समाज का विकास सर्वांगीण नहीं होगा।

सर्वांगीण विकास के लिए विशिष्ट गुणों के विनिमय की नितान्त आवश्यकता है। वेद मनुष्यों को सर्वांगीण सन्तुलित विकास का आदेश देता है।

८१

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा।
एष ते रुद्र भागऽ आखुस्ते पशुः ।।

यजु० : ३।५७।

हे (**रुद्र**) दुःख दूर करने वाले प्रभो ! (**एष ते भागः**) यह मन तेरी भेंट हो। मैं उसे (**स्वस्रा**) सम्पूर्ण समर्पण भाव से (**अम्बिकया**) अन्तः प्रेरणा से (**स्वाहा**) तुझे समर्पित करता हूँ। (**तं जुषस्व**) उसे स्वीकार करो (**एष ते भागः**) यह मन अब तुझे ही समर्पित है। यह अब (**ते पशुः**) तेरा ही दर्शन करे (**ते आखुः**) तेरी ही खोज करे।

परमेश्वर को रुद्र रूप में हम तब याद करते हैं जब हम पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़े और हम प्रभु की सहायता से उस दुःख को दूर करना चाहें। किसी दुष्ट के विनाश के लिए भी ईश्वर के रौद्र रूप का स्मरण किया जाता है।

बाहर के भौतिक दुःखों का निराकरण करने में तो हमारे बन्धु-बान्धव या मित्र भी सहायक हो जाते हैं किन्तु मानसिक दुःखों का निवारण केवल अन्तर्यामी प्रभु ही करते हैं। यहां साधक रुद्र रूप परमेश्वर का चिन्तन करके रुद्र भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे रुद्र ! मैं सम्पूर्ण समर्पण भाव से अपना तन-मन तुझे समर्पित कर रहा हूँ। यह समर्पण किसी के

बाह्य प्रभाव में आकर नहीं कर रहा बल्कि पूर्णतः अन्तः-प्रेरणा से कर रहा हूँ। मेरे अन्तःकरण से यही आदेश मिला है कि मैं रुद्र रूप भगवान् की शरण जाकर अपने कष्टों के निवारण की भिक्षा माँगूं। साधक अन्तःप्रेरणा से श्रद्धावश कहता है—हे रुद्र भगवन्! मुझे अपनी शरण में लो, मेरा समर्पण स्वीकार करो। यह मन अब आपका ही दास है। इसे आपके प्रेम की प्राप्ति के सिवाय कोई इच्छा नहीं है।

साधक विनम्र और निश्छल भाव से स्वीकार करता है कि मेरे मन में अब न कोई दुविधा है न संशय। इसके सब द्वन्द्व और ऊहापोह समाप्त हो गये हैं। हे रुद्र भगवन्! अब केवल आपके सत्य स्वरूप को देखने की तीव्र आकांक्षा लेकर वह आपकी शरण आया है। आपकी समीपता पाना ही इसका लक्ष्य है।

संसारी संघर्षों से व्याकुल होकर जिस मनुष्य का मन परम शान्ति पाने के लिए प्रभु की शरण में आये उसे अपने को बड़ा सौभाग्यशाली मानना चाहिए। ईश्वर की ओर मनुष्य मन का सच्चा झुकाव केवल अन्तःप्रेरणा से होता है। अन्तःकरण से ईश्वर-प्रेम की पुकार उठे तभी उसे शान्ति मिलती है। लेकिन अन्तःकरण जब निर्मल हो, संसारी राग द्वेष तथा काम, क्रोधादि आवेशों से मुक्त हो तभी मनुष्य इस अन्तर्ध्वनि को सुन सकता है। अन्यथा उसे अपने ही अन्दर की आवाज सुनाई नहीं देती।

जो मनुष्य अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर प्रभु की शरण जाते हैं उनके दुःखों का तुरन्त निवारण होता है।

८२

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्य दातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ।

साम पूर्वा० : १।१।१

(**अग्ने**) हे ज्योतिर्मय (**आयाहि**) आओ, दर्शन दो। तू (**गृणानः**) गुणों द्वारा प्रशंसित है। तू (**होता**) दाता है। (**वीतये हव्यदातये**) हृदय में उजाला करने के लिए और हव्यदान के-प्रसाद देने के लिए (**आयाहि**) आओ और (**बर्हिषि निसत्सि**) हृदयासन पर विराजमान रहो।

ज्योतिर्मय प्रभु को संबोधन करके साधक अन्तःकरण के अज्ञान को मिटाने की प्रबल इच्छा से प्रार्थना करता है कि हे समस्त ज्योतियों के स्रोत प्रभो ! मेरे हृदय को प्रकाशित करने के लिए मैं आपका आह्वान करता हूँ।

संसार का समस्त वैभव पाकर भी मनुष्य का हृदय तब तक स्थिर शान्ति और आनन्द अनुभव नहीं करता जब तक उसके हृदय में प्रभु का प्रकाश न हो। बाहर के प्रकाश-स्रोत संसारी वस्तुओं का अन्धकार अवश्य मिटा सकते हैं किन्तु अन्दर के अन्धकार का निवारण केवल ईश्वर के प्रति अटूट आस्था से ही होता है। मन की शान्ति ईश्वर के वरदान से ही मिलती है।

ईश्वर स्वभाव से 'होता' है—हवि देने वाला है। मनुष्य अपनी श्रद्धा से ईश्वर के विश्वयज्ञ में अपने पुरुषार्थ की 'हवि' देता है और ईश्वर मानव हृदय में अपने आनन्दमय दिव्यांश की 'हवि' देता है। हवि देने वाला ही हवि ग्रहण भी करता है।

जैसे पूजा के लिए समर्पित नैवेद्य का प्रतिफल पुजारी 'प्रसाद' रूप में तुरन्त देता है वैसे ही प्रभु की पूजा का प्रसाद भी मानसिक शान्ति के रूप में तुरन्त मिल जाता है। प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। मन के शान्त वातावरण में ही प्रभु-प्रकाश का दीप प्रज्वलित रह सकता है। संसारी तृष्णाओं की आंधी में वह कदापि उद्दीप्त नहीं होगा।

अतः प्रभु से प्रकाश की भिक्षा माँगने से पूर्व हृदय-मन्दिर को प्रशान्त कर लेना आवश्यक है। पूर्णतः तृप्त और प्रशान्त हृदय-मन्दिर में ही प्रेम की दीपशिखा जलेगी। जब तक मनुष्य का हृदय निर्मल नहीं होगा, वासनाओं की और राग, द्वेष की मलिनताओं से रिक्त नहीं होगा तब तक प्रभु उसमें अपने आनन्द की हवि अर्पित नहीं करेंगे। जिस आसन पर हम प्रभु को विराजित करना चाहते हैं वह उनके योग्य होना चाहिए। इस योग्यता के लिए धन-वैभव नहीं चाहिए, हृदय की पवित्रता चाहिए। पवित्र हो तो कुशासन भी प्रभु के आसीन होने के योग्य हो जाता है। पवित्र न हो तो अनमोल हीरों से मण्डित सिंहासन भी प्रभु को स्वीकार्य नहीं होता।

८३

**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।।**

ऋक् : १।१।१॥

मैं (**पुरोहितं**) अपने अन्तःकरण में प्रत्यक्ष अनुभूत होने वाले (**यज्ञस्य देवम्**) दिव्यता देनेवाले (**ऋत्विजम्**) अनेक साधनों से प्राप्त होने वाले (**होतारं**) प्रदाता का (**रत्नधातमम्**) शोभनीय आभा वाले सब पदार्थों को धारण करने वाले (**अग्नि**) तेजोमय प्रभु का (**ईळे**) स्तवन करता हूँ ।

परमेश्वर ने संकल्प मात्र से सृष्टि के लिए जब प्रकृति-तत्त्वों का संयोजन किया और अव्यक्त भूतों में व्यक्त होने की गति प्रारम्भ हुई तो समस्त ब्रह्माण्ड सर्वप्रथम प्रकाशित चेतन ज्योति से पूर्ण हो गया । उसी सर्वप्रथम व्यक्त चेतन ज्योति को संबोधन करके मेधावी भक्त कहता है—

हे समस्त विश्व यज्ञ के अधिष्ठाता, जगत् के सब श्रेष्ठ कार्यों के संचालक मैं आपकी स्तुति करता हूँ । आपने ही सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व के सूक्ष्म परमाणु-सागर को अपने विराट् अन्तरिक्ष रूपी उदर में धारण किया था ।

आपके पूर्वनिर्धारित विधि-विधान के अनुसार ही सृष्टि में संवत्सरों और ऋतुओं का विभाजन हुआ और भिन्न-भिन्न

ऋतुओं के अनुसार प्रकृति की कार्यविधि की शाश्वत परम्परा पड़ी थी। आप ही इसमें हवि देकर सर्वदा प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं और सूर्य-चन्द्र आदि अनन्त नक्षत्रों की हवि देकर विराट् विश्व को ज्योतिर्मय रखते हैं। अपनी अनन्त शक्ति से आप ही इन असंख्य ग्रह नक्षत्रों को यथास्थान कार्य करने की प्रेरणा देते हैं।

अन्तरिक्ष के ज्योतिर्मय नक्षत्रों के अतिरिक्त पार्थिव जगत् की स्वर्ण रत्नादि रूपी सम्पदा का धारण आपकी ही शक्ति से होता है। ब्रह्माण्ड में रूप, गन्ध स्पर्श आदि से जो कुछ व्यक्त हो रहा है उन सब गुणों आदि के स्रोत आप ही हैं।

हम आपकी स्तुति करते हैं और आप द्वारा प्रदत्त मेधा से आपकी रहस्यमयी शक्तियों को पहचान उनके आदिमूल आपको खोजने का यत्न करते हैं।

संसार के सब मेधावी भौतिक विज्ञान के प्रतिभाशाली महान् अन्वेषक विज्ञान के नये-नये उपकरणों से पृथ्वी या द्युलोक में व्याप्त उस एक परमसत्ता की ही खोज कर रहे हैं जो अपनी अनन्त शक्ति से सृष्टि का संचालन कर रहा है आध्यात्म जगत् के महान् योगी भी अध्यात्म विद्या की साधना द्वारा उसी परम ब्रह्म की अनुभूति के यत्न कर रहे हैं दोनों भिन्न-भिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य पर पहुंचते हैं और अन्त में उस अनिर्वचनीय अलौकिक शक्ति के प्रति नतमस्तक होते हैं।

८४

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति ॥

ऋक् : १।१।४

हे अग्ने दिव्य ज्योतिर्मान् प्रभु तू (**यम् अध्वरं यज्ञं**) जिस निश्चल सतत साधनाशील निष्पाप जीवन-यज्ञ को (**विश्वतः**) सब ओर से (**परिभूः असि**) व्याप्त होकर आत्मीय बना लेता है (**स इत् देवेषु गच्छति**) वही यज्ञीय जीवन दिव्यता से शोभित होता है।

जो साधक पूर्ण श्रद्धा से भगवान् की ज्योतिर्मयी, कल्याण-कारिणी चेतन-अचेतन सृष्टि का रहस्य जानने का यत्न करते हैं, उनका जीवन दिव्य आनन्द से भर जाता है। वे भगवान् की लीला को देखते और उसकी व्यापक सत्ता के आश्चर्यमय कार्यों को जानते हुए इतने आत्मविभोर हो जाते हैं कि उन तक संसारी संघर्षों और संसारी राग-द्वेष की चिंगारियों की आंच नहीं पहुंच पाती।

वे चाहे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक हों या अध्यात्म योगी और प्रखर बुद्धि सम्पन्न मेधावी विद्वान् हों उनका मन सदैव परम प्रभु में युक्त रहता है। वे प्रभु की अपार दया, करुणा और न्यायप्रियता से इतने मुग्ध रहते हैं कि अपने व्यावहारिक जगत्

की ऊँच-नीच को बहुत तुच्छ समझने लगते हैं।

परमात्मा का सतत—चिंतन करते हुए उनके अन्तर में भी ईश्वरीय गुणों का विकास प्रारम्भ हो जाता है। दुःखजनक काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गणों से उन्हें सहज ही मुक्ति मिल जाती है। संसार के तुच्छ राग-द्वेष उन्हें विचलित नहीं करते। उनका मन विकृत नहीं होता। मानसिक आवेशों का प्रकोप उनकी शान्ति को भंग नहीं करता।

उनकी प्रत्येक चेष्टा कल्याणमयी होती है। निरन्तर मंगलमूर्ति भगवान् का ही चिंतन करने के कारण वे स्वयं मंगल-मूर्ति बन जाते हैं। ईश्वर के सान्निध्य में रहने वाले ऐसे महात्माओं पर परमेश्वर का सदा वरद हस्त रहता है। सृष्टि के सब देवता, दिव्य प्रकाश से युक्त ग्रह-नक्षत्र भी उनके लिए सदैव मंगलकारी रहते हैं।

उन्हें इस जीवन में ही दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। जगत् में उनका अपूर्व सम्मान होता है। विश्व के सब देवपुरुषों से उन्हें हार्दिक अभिनन्दन प्राप्त होता है। वे इस दिव्य विश्वयज्ञ के भागीदार बनते हैं। ऐसे श्रेष्ठतम पुरुषों के सहयोग से ही ईश्वरीय कार्य सिद्ध होते हैं। परम दयालु भगवान् उन्हें अपनी गोद में आश्रय देता है। उन्हें आत्मीय बना लेता है। ऐसे निष्पाप, निष्कलंक देवपुरुषों को ही अमृतत्व प्राप्त होता है। वे अमर हो जाते हैं।

८५

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

ऋक् : १।१।९॥

हे (**अग्ने**) ज्योतिर्मय विश्वात्मा (**नः सु उपायनः भव**) तू हमारे लिए सदैव सुगमता से प्राप्त होनें और सरलता से समीप होने योग्य रहे। (**नः आसचस्व पिता सूनवे इव**) हमें अपने प्रेम में आबद्ध रखो, जैसे पिता पुत्र को प्रेमबद्ध रखता है। हम भी तुम्हारे प्रेम में वैसे ही बंधे रहें।

ईश्वर साक्षात्कारके लिए साधक अपनी प्रकृति के अनुसार विविध मार्गों का आश्रय लेते हैं। एक कर्मयोग द्वारा उसका वरदान प्राप्त करने की साधना करता है, दूसरा ज्ञान के माध्यम से परम सत्य की खोज में जीवन लगा देता है, तीसरा अनन्त श्रद्धा द्वारा प्रभु के गुणगान करता हुआ प्रभु के प्रेम का भिक्षुक बन जाता है।

परम प्रभु पूर्ण गुण सम्पन्न होते हुए भी निराकार और गुणातीत है। अल्पज्ञ मनुष्य उसकी महिमा का अन्त नहीं पा सकता। किन्तु अपने स्वभावानुसार धर्माचरण करते हुए ईश्वर के साक्षात्कार की अनुभूति अवश्य कर सकता है। किसी भी सन्मार्ग से चलता हुआ साधक उस आनन्द का अनुभव अवश्य ले सकता है जो प्रभु के समीप पहुंचने वाले व्यक्ति को होते हैं।

कर्म प्रधान होने से हम किसी मार्ग को कर्म-मार्ग कह देते हैं, ज्ञान प्रधान होने से ज्ञानमार्ग और भक्ति प्रमुख होने से भक्तिमार्ग कहा जाता है। किन्तु कोई भी मार्ग सर्वथा एकांगी नहीं होता। विराट् पुरुषों से साक्षात्कार के लिए विशाल-विस्तीर्ण मार्गों का ही अवलम्ब लेना चाहिए। ऊपर से भिन्न-भिन्न दिखलाई देने वाले मार्ग मूलतः एक ही होते हैं। कर्म ज्ञान और श्रद्धापूर्वक किया जाय तभी सफल होता है, ज्ञान श्रद्धा विना प्राप्त नहीं होता। ज्ञान प्राप्त करना स्वयमेव एक कर्म है। श्रद्धा तो एक भावना है। श्रद्धा की भावना द्वारा भी कर्म करने से ही विकास होता है और ज्ञान की वृद्धि होती है।

सभी मार्गों की एकता पर विश्वास न रखकर भिन्न-भिन्न पन्थों का एकान्तिक अनुगमन करने से साधक का मार्ग बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसे साधक के लिए परम प्रभु 'सूपायन' सुगम प्राप्तव्य नहीं रहता। अपने बहुपक्षी मार्गों में ही साधक इतना भटक जाता है कि अपने असली लक्ष्य को भूलकर वह पन्थ का ही अनुयायी बन जाता है।

तभी वह पुकार उठता है—हे प्रभु आप मुझे सरलता से प्राप्त होने योग्य बनो। अर्थात् मुझे ऐसा विवेक दो कि मेरा मार्ग सरल हो जाये। पिता तक पहुंचने का मार्ग जैसे पुत्र के लिए सरल होता है वैसे ही प्रभु मेरे लिए तुम्हारा प्रेम पाने का रास्ता भी सुगम बन जाये।—जो साधक यह प्रार्थना करे उसे सच्चे अर्थों में परमपिता का पुत्र बनना होगा। आज्ञाकारी बने बिना पिता के प्रेम का फल पुत्र को भी नहीं मिलता। पिता के आदेशों से विमुख होकर पुत्र पिता का प्रेम नहीं पा सकता। जो पुत्र पिता को सच्चे हृदय से प्रेम करेगा परमपिता उसे निश्चय ही अपने आलिंगन में बांध लेंगे।

८६

इषे त्वोर्जे त्वा वायव वस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥

यजु० : १।१ ॥

मनुष्यो तुम (**वायव स्थ**) गतिशील वायु सदृश हो, आत्मवान् हो (**सविता देवः**) प्राण स्रष्टा दिव्य विधाता (**त्वा इषे ऊर्जे श्रेष्ठतमाय कर्मणे-अर्पयतु**) तुम्हें संकल्प के लिए, पुरुषार्थ के लिए और श्रेष्ठ कर्म-सम्पादन के लिए प्रेरित करते हैं। (**अघ्न्या**) इन्द्रियो ! तुम (**प्रजावतीः अन् अमीवाः अयक्ष्माः**) सृजनशक्ति युक्त और नीरोग एवं क्षय रहित होकर (**इन्द्राय भागम् आप्यायध्वं**) अपने स्वामी इन्द्र आत्मा को अपने-अपने कर्तव्य कर्म का सुफल अर्पित करो। (**वः मा स्तेनः अघशंसः**) तुम पर शैतान और कुटिल पापवृत्ति का अधिकार न हो। (**बह्वी अस्मिन् गोपतौ ध्रुवा स्यात्**) सब इन्द्रियां आत्मा के प्रति अविचल भाव से उसके अनुशासन में चलें और (**यजमानस्य पशून् पाहि**) साधक आत्म गौरव की रक्षा करें।

परमदेव सविता प्रत्येक व्यक्ति के आत्म-भाव को जगाकर

जीवन में यशस्वी बनाने का मार्ग बतलाते हैं। प्रत्येक मानव के अन्तःकरण में भगवान् स्वयं प्रतिष्ठित हैं और वह स्वयं मनुष्य को श्रेष्ठ कर्मों के लिए प्रेरित करते हैं। वह केवल कर्म की ही प्रेरणा नहीं करते अपितु ज्ञान भी देते हैं कि तुम कर्म करते हुए उसके बदले तुरन्त पुरस्कार पाने की आशा न करो। प्रत्येक शुभ कर्म का परिणाम तुरन्त प्राप्त नहीं होता। पूर्व-संचित कर्मभोग भी इसी जीवन में ही झेलने पड़ते हैं। फिर भी ईश्वर का उपदेश है कि—तुम पूर्ण विश्वास रखो कि तुम्हारा कोई भी पुरुषार्थ विफल नहीं होगा। अतः पुरुषार्थ में शिथिलता नहीं आनी चाहिए।

तुरन्त फल न पाकर मनुष्य को निराश भी नहीं होना चाहिए और नैराश्यमूलक दुष्कर्म या कुटिल कर्म में भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। निराशा से बचने का अन्यतम उपाय यही है कि तुरन्त लाभ पाने की आशा का परित्याग करके केवल देव सविता के प्रति समर्पण भाव से सत्कर्म किया जाये। यही कर्मयोग का सार है। सत्कर्म में सदैव युक्त रहने का आदेश ही वेदवाणी देती है।

किन्तु यह तभी संभव है अगर मनुष्य आत्मवान् बने। आत्मा को प्रबल बनाकर इन्द्रियों को अपने अनुशासन में रखे। इन्द्रियां तृप्ति चाहती हैं। मन चंचल होता है। मन के पीछे चलकर आत्मा भी चंचल हो जाता है। इसीलिए साधक का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह मन को अपने अनुशासन में रखे। इन्द्र बने। अपने मन का स्वामी बने। आत्मवान् बने।

८७

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति,
कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति ।
कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥

यजु० : १।६॥

हे साधक ! (**त्वा** [सत्येन] **कः युनक्ति**) कौन तुझे परमसत्य से युक्त रख सकता है। उत्तर मिलता है, (**सः** [व्रतपतिः] **त्वा युनक्ति**) तेरा अपना व्रात्य आत्मा ही सत्य से तुझे युक्त करता है। (**कस्मै त्वा युनक्ति**) किस निमित्त से युक्त करता है। (**तस्मै** [श्रेष्ठतमाय कर्मणे] **युनक्ति**) श्रेष्ठ कर्म सम्पादन के लिए नियुक्ति होती है। (**वां कर्मणे वेषाय**) दोनों के संयोग का कारण है दोनों का परस्पर स्वभावतः सखाभाव।

कर्मशील धर्मात्मा के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि मुझे परमसत्य के खोजने की प्रेरणा देने वाला कौन है। अनन्त विश्व की महिमा देखकर हमारा मन उसके नियन्ता का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाता है। जो चेतन शक्ति समस्त विश्व को धारण करती है, जिसकी ज्योति से अनन्त ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तर अपने-अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठित हैं—उस अनन्त शक्तिशाली का परिचय प्राप्त करने के लिए हम उत्सुक हो जाते हैं।

किन्तु यह 'हम' कौन हैं जो हमारी बुद्धि को इस परमसत्य की खोज में युक्त करता है ? इसका उत्तर पाने पर ही यह खोज आगे बढ़ सकती है।

अतः वेदमाता उस विश्वव्याप्त परम शक्ति की खोज में लगने से पूर्व इस खोज में युक्त करने वाली सत्ता से परिचय पाने का आदेश देती है। अन्वेषण के लक्ष्य को जानने से पहले अन्वेषक का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है।

वेदवाणी स्वयं उत्तर देती है कि हमारा व्रात्य आत्मा ही हमें सत्य के अनुसंधान में प्रवृत्त करता है। अनुसंधान के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी वेदवाणी का निर्णय बड़ा स्पष्ट है। वह लक्ष्य उस परम रहस्यमयी शक्ति का साक्षात् करके उसके ही ध्यान में अपने को खो देना नहीं बल्कि उस सत्ता पर श्रद्धा रखकर श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्त होना है।

वेद की यह निश्चित स्थापना है कि हमारे आध्यात्मिक ज्ञान का उद्देश्य समाधि अवस्था में अपने अस्तित्त्व को भूल परम सत्ता में विलीन होना नहीं बल्कि उस ज्ञान से प्रभु-अर्पित निष्काम कर्म करते हुए संसार का कल्याण करना है। हम इस लक्ष्य का सम्पादन सुचारु रूप से तभी कर सकते हैं यदि हमारे सामने यह स्पष्ट हो कि कौन-सी शक्ति हमें इस कार्य में प्रवृत्त करती है और किस कारण से करती है।

कारण बतलाते हुए वेद ने स्पष्ट किया है कि हमारा आत्मा अनादिकाल से परम-आत्मा का सखा है। आत्मा और परमात्मा का यह सखाभाव भी उसी प्रकार नित्य हैं, जिस प्रकार दोनों की सत्ता का। इसीलिये यह हमारा धर्म या शाश्वत नियम बन गया है कि हम श्रेष्ठ कर्मों में युक्त रहें।

८८

मा भेर्मा संविक्था अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् । त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥

यजु० : १।२३

(**मा भेः**) भयभीत मत हो । (**मा संविक्थाः**) विचलित हो । (**यजमानस्य प्रजा अतमेरुः भूयात्**) साधक मनुष्य उसकी सन्तान अनासक्त भाव से साधना करे । (**त्वा त्रिताय त्वा द्वित्वाय, त्वा एकताय**) तुझे आत्मा, परमात्मा, प्रकृति तीनों अथवा इनमें दो या एक मात्र ईश्वर की ज्ञान सिद्धि के लिए साधना करनी है ।

निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य कर्म करना वैदिक आदर्शों एक मुख्य आदर्श है । किसी दैवी बाधा, लोकापवाद अथवा विफलता के संभावित भय से हम प्रायः अपने कर्त्तव्य पथ विमुख हो जाते हैं । दैवी बाधा का हमारे पास कोई उपा नहीं होता । जो अवश्यंभावी है उसका निवारण नहीं हो सकता उसके विरुद्ध आचरण भी व्यावहारिक नहीं होता । अतः अनिवार्य मानकर ही अपना मार्ग निश्चित करना चाहिए । दैवी आपत्ति को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए ही हम अपना कार्य पूर कर सकते हैं ।

लोकापवाद के भय से सच्चे रास्ते का परित्याग कर

कायरता है। लोकनिन्दा की जड़ में प्रायः असत्य और विद्वेष होता है। बड़े बड़े तपस्वी-मनीषियों को अनेक बार आक्षेप सहने पड़ते हैं। मृत्यु तक झेलनी पड़ती है। स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सत्यनिष्ठ पुरुषों का अपयश फैला देते हैं। सच्चे तपस्वी इन लोकापवादों की चिन्ता नहीं करते। वे अकेले ही निर्भय अपने मार्ग पर चलते जाते हैं। उनकी निर्भय वृत्ति ही उन्हें अमर बना देती है।

संसार में विफलता के डर से श्रेष्ठ कार्य आरम्भ न करने वालों की संख्या भी कम नहीं होती। यह भय भी कई बार विफलता का कारण बन जाता है। क्योंकि इस भय से मन का संकल्प ढीला पड़ जाता है। आत्मविश्वास की क्षति होती है। विना आत्मविश्वास कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता।

अतः साधक को निर्भय होकर अपनी साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रत्येक की साधना के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कोई ईश्वर की प्राप्ति को ही लक्ष्य मानकर केवल आध्यात्ममय साधना को लक्ष्य मानता है, कोई भौतिक समृद्धि पाने को ही अपना ध्येय स्वीकार कर लेता है। कुछ हैं जो तीनों की सिद्धि के लिए यत्न करते हैं। उनके लिए भौतिक एवं तात्त्विक विवेचन करते ही सर्वतोमुखी उन्नति करना ही ध्येय बन जाता है।

अपने ध्येय की पूर्ति में निर्भीक और साहसिक भावना द्वारा उन्नति करते जाना व्यावहारिक धर्म है। जीव की स्थिति मध्यम मार्ग की है। अतः इस मार्ग का अवलम्बन करना ही सच्ची साधना है। इस मार्ग से ही मनुष्य अनासक्त होकर अपने काम कर सकता है।

८९

सं ते मनो मनसा सं प्राणेन गच्छताम् ।
रेडस्याग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य
त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंꣳह्या ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः ॥

यजु० : ६।१८॥

आचार्य कहें—हे बालक, (**ते मनः मनसा संगच्छताम्**) तेरा मन आचार्य के मन के अनुकूल चले। (**ते प्राणः प्राणेन संगच्छताम्**) तेरा जीवन-व्यवहार आचार्य के अनुकूल रहे। तू (**रेड्असि**) प्रियभाषी है। (**अग्निः त्वा श्रीणातु**) ज्ञान से तू परिपक्व हो। (**त्वा वातस्य ध्राज्यै रंह्या**) तुझ में वायु की गति प्रगति बनाने के लिए (**पूष्णः ऊष्मणः व्यथिषत्**) आचार्य तप आदि की ऊष्मा से, अनुशासन से कठोर बनायेगा। और तुझे (**द्वेषः प्रयुतम्**) द्वेषादि से दूर रखेगा। (**त्वा आपः सम् अरिणम्**) और अपने स्नेह पूर्ण व्यवहार से इतना आत्मीय बनायेगा कि तू कुल में रम जायेगा।

आचार्य के आश्रम में शिक्षा लेने के लिए जाते हुए बालक को उसका पिता उपदेश देता है कि तेरा मन सदैव आचार्य के मन से मिला रहना चाहिए। जहाँ मन की अनुकूलता नहीं होती वहाँ कोई भी सम्बन्ध स्थायी एवं प्रभावोत्पादक नहीं होता।

परिवार में माता-पिता के साथ रहते हुए बालक का मन

माता-पिता के अनुकूल रहना स्वाभाविक है। माता-पिता के प्रगाढ़ प्रेम से बालक का हृदय आप्लावित रहता है। बालक का संसार उन दोनों तक सीमित होता है। बाह्य प्रभावों से उसके मन में जो विसंवादी स्वर जन्म लेते हैं वे माता-पिता के सदा प्रवाही प्रेम में बह जाते हैं।

किन्तु अब उसे उनसे दूर होना है, आचार्य की शरण में स्थान पाना है। अतः वे उसे याद दिलाते हैं कि जिस प्रकार तू अपनी प्रिय वाणी से हमें प्रसन्न करता था उसी प्रकार आचार्य के प्रति मधुर वाणी बोलते हुए उनका प्रेमपात्र बन।

वे बालक को आश्वासन देते हैं कि आचार्य उसके मन का ऐसा विकास करेगा जिससे उसके मन में सरदी-गरमी, सुख-दुःख के द्वन्द्वों का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। आचार्य उसे तपस्या करना सिखायेगा। सुख-दुःख या मानापमान में समबुद्धि रखने की रीति बतलायेगा।

इस प्रकार के जीवनोपयोगी आचरण सिखाने के लिए ही प्रधान शिक्षक को आचार्य कहा जाता है। अक्षरज्ञान देने, साहित्य का अभ्यास कराने अथवा जीविकोपार्जन के योग्य बनाने से ही कोई शिक्षक आचार्य नहीं बन सकता। आचार्य वही है जो बालक को अत्यन्त स्नेह से आत्मीय बना ले और अपने स्नेहपूर्ण व्यवहार से उसका मन जीत ले। प्रत्येक नागरिक पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपने बालक के लिए शिक्षक की नियुक्ति का विचार करते हुए शिक्षक को व्यावहारिक योग्यता पर भी निगाह रखे। आचरण का आदर्श गुरु होने के कारण ही गुरु को आचार्य कहा जाता है।

९०

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि
निर्याचन् भूतात् पुरुषो यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण
अनयैनं मेखलया सिनामि ॥

अथर्व : ६।१३३।३॥

(**यत् अहं मृत्योः यमाय**) जो मैं यम-मृत्यु के लिए (**भूतात् निर्याचन्**) अपने साथी प्राणियों से निर्वाचित (**पुरुषः ब्रह्मचारी अस्मि**) पुरुषार्थी ब्रह्मजिज्ञासु विद्यार्थी हूँ। अतः मैं (**अनया मेखलया**) इस यज्ञोपवीत की मेखला से (**ब्रह्मणा, तपसा श्रमेण**) ब्रह्मज्ञान, तपस्या और पुरुषार्थ की साधना द्वारा (**एनं**) मृत्यु को (**सिनामि**) वश में करता हूँ।

उपनयन संस्कार के समय यज्ञोपवीत धारण करते हुए बालक मन्त्र द्वारा इस बात का अभिमान अनुभव करता है कि उसके माता-पिता और परिजनों ने शिक्षा ग्रहण करने के लिए उसे आचार्य के पास भेजा है। सभी बालक ब्रह्मविद्या में दीक्षित नहीं होते। विशेष बालक को ही उसकी रुचि और प्रतिभा देखकर उसे ब्रह्मज्ञान लेने के लिए भेजा जाता है।

उपनयन संस्कार के समय यज्ञोपवीत पहनाया जाता है। तीन सूत्रों से बनी इस मेखला को धारण करके बालक आचार्य

के आश्रम में रहते हुए ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का व्रत लेता है।

ये तीन सूत्र हर समय शरीर का स्पर्श करते हुए बालक को स्मरण दिलाते रहते हैं कि वह ब्रह्मविद्या का विद्यार्थी है।

आचार्य इन तीन सूत्रों का महत्त्व बतलाते हुए कहता है कि ये सूत्र ब्रह्मज्ञान, तप और श्रम के प्रतीक हैं। ज्ञान, तप और श्रम की सहायता से मनुष्य मृत्युंजयी बनता है। मृत्यु भय से मुक्ति पाने के लिए इन तीनों की साधना करनी पड़ती है। इनमें से कोई भी साधन कम महत्त्व का नहीं।

आचार्य द्वारा प्राप्त ज्ञान से नई दृष्टि मिलती है। जीवन का ध्येय स्पष्ट होता है। और उस ध्येय तक पहुँचने का मार्ग मिल जाता है। लेकिन उस मार्ग पर वही चल सकते हैं जिनके जीवन में तप की साधना है। जो शारीरिक, मानसिक, आत्मिक कष्ट सहने की क्षमता रखते हैं। तपस्या ही सांसारिक भोगों से विरक्ति देकर जिज्ञासु व्यक्ति को आध्यात्म में युक्त करती है। विलासी और भोगी व्यक्ति ब्रह्मज्ञान पाकर भी मृत्युञ्जयी नहीं बनते। भोग-विलास में फँसे रहते हैं।

शारीरिक श्रम भी मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना विद्याभ्यास। नीरोग रहने और सेवा-कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिए शरीर को स्वस्थ और सबल रखना उतना ही आवश्यक है जितना आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय।

यज्ञोपवीत के तीन सूत्र ज्ञान, तप और श्रम के प्रतीक हैं। बालक प्रतिज्ञा करता है कि वह इन तीनों सूत्रों से मृत्यु को वश में करेगा। मृत्युञ्जय होने के इस व्रत का स्मरण यज्ञोपवीत प्रतिक्षण करवाता है। इसे धारण करके विद्यार्थी व्रात्य बनता है। व्रात्य बनकर ही हम मृत्युञ्जयी बनते हैं।

६१

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा ।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ।।

यजु० : ६।२५॥

आचार्य कहता है—हे बालक इस आचार्य कुल में (**त्वा हृदे, त्वा मनसे, त्वा सूर्याय**) तुझे हृदयवान् होने के लिए, मनस्वी, मननशील रहने के लिए, सूर्य समान तेजस्वी और प्रकाश देने के लिए दीक्षा दी है। तू (**इमम् अध्वरम् ऊर्ध्वम्**) तू इस विश्वयज्ञ को ऊर्ध्वगामी, उत्कर्षशील रखना। तू (**दिवि देवेषु होत्रा यच्छ**) दिव्यता में स्थिर रहकर और दिव्य गुण कर्म स्वभाव रखते हुए विश्व के सब मानवों में शुद्ध पवित्र विचारों की हवि देते रहना।

विद्यार्थी विद्याध्ययन समाप्त करके जब आचार्य कुल से विदा होता है तो उसे विदाई का उपदेश देते हुए गुरु कहता है, कि इस विद्यालय में तुझे हृदयवान् बनने के लिए शिक्षित किया गया है। जिस शिक्षा से हृदय में सहानुभूति, दया, करुणा, प्रम आदि के भावों का उदय न हो वह शिक्षा अधूरी होगी। हृदयहीन व्यक्ति स्वार्थ का पुतला होगा। उससे न तो बालक के माता-पिता या परिवारजन का कल्याण होगा और न समाज का। ऐसा स्वार्थनिष्ठ व्यक्ति क्रूर और हिंसक भी हो सकता है। अतः आचार्य स्मरण दिलाता है कि उसने बालक को ज्ञान-विज्ञान के साथ हृदय से सद्भावनापूर्ण रहने की भी शिक्षा दी है।

उसे मन की शिक्षा भी मिली है। मननशील रहने और दृढ़संकल्पी बनने का अभ्यास भी गुरु ने करवाया है। मनन-चिन्तन से ही मनुष्य जीवन में प्रतिदिन नई शिक्षा ग्रहण कर सकता है। उसमें आत्मचिन्तन की प्रवृत्ति का निर्माण हो सकता है। मनोयोग के बिना किसी भी श्रेष्ठ कर्म का सम्पादन नहीं हो सकता। ज्ञान को व्यावहारिक बनाने के लिए मनोयोग का अभ्यास आवश्यक है।

आचार्य बालक को इस मन्त्र द्वारा यह भी याद दिलाता है कि तुझे इस कुल में दिव्यता प्राप्त करने और संसार में दिव्य-गुणों की सहायता से दिव्य कार्य करने के लिए भी तैयार किया गया है। दिव्यगुण ही विद्या को सफल बनाते हैं। इन्हीं गुणों से यश मिलता है। व्यक्ति और राष्ट्र गौरवशाली बनते हैं। दिव्यता मनुष्य को अन्य संसारी, स्वार्थप्रमुख व्यक्तियों से अलग करके ईश्वरीय वरदान पाने का अधिकारी बनाती है। किसी भी व्यक्ति में असाधारण रूप से मांगलिक कार्य करने की क्षमता दिव्यता से ही आती है। देवपुरुष हुए बिना मनुष्य का जीवन सार्थक नहीं होता।

आचार्य अन्त में इस मन्त्र द्वारा स्मरण दिलाता है कि ईश्वर के विश्वयज्ञ को गौरवान्वित करना ही साधक का उद्देश्य होना चाहिए। विश्व-कल्याण में अपने देवत्व की आहुति से ही यह संभव है। आचार्य द्वारा बालक में दिव्य-गुणों के बीज बोने, उन्हें अंकुरित करने और पालित-पोषित करने का लक्ष्य यही था कि वह इन्हें प्राप्त करके विश्वयज्ञ में आहुति दे दे, अर्थात् विश्व कल्याण के निमित्त जीवन को पूर्णतः समर्पित कर दे। स्वयं दिव्यता में स्थिर रहकर विश्वयज्ञ को अपनी हवि प्रदान करते रहना ही जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति में ही सभी मनुष्यों के जीवन की सार्थकता है।

९२

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

यजु० : ३४।१॥

(यत् दैवं मनः जाग्रतो दूरम् उत् एति) जो दिव्यशक्ति से सम्पन्न मन जाग्रत् अवस्था में अनन्त दूरी तक पल भर में उड़ जाता है। **(तत् सुप्तस्य तथैव एति)** यही मनुष्य की सुप्तावस्था में भी वैसे ही गतिशील रहता है। **(तत् दूरं गमं, ज्योतिषां ज्योतिः)** उस स्वभाव से वेगवान् दूरगामी अपने प्रकाश में स्वयं चलने वाला **(मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु)** मेरा मन शुभ संकल्प करने वाला हो।

मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करने वाली शक्ति को ही मन कहते हैं। यह बहुत बलवान् है, वेगवान् है। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां दोनों इस एक मन के अधीन ही कार्य करती हैं। किन्तु मन इनसे स्वतन्त्र रहकर भी काम करता है। जहां आंख नहीं जाती वहां अपनी कल्पना रूपी पंख से उड़कर मन पहुँच जाता है। इसके मार्ग में कोई रुकावट नहीं आती। सर्दी हो या गर्मी, तूफान हो या आंधी, मन के मार्ग में कोई शक्ति बाधा नहीं डाल सकती।

इसका वेग भी असाधारण है। सूर्य किरण में भी वह वेग नहीं जो मन में है। वायु और ध्वनि का वेग भी मन के वेग के सामने तुच्छ है। किसी भी भौतिक शक्ति में उतना वेग

नहीं है।

मन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब इन्द्रियां थककर प्रसुप्तावस्था में पहुंच जाती हैं, आंखें देखने के कार्य से विरत होकर पलकों के पीछे अपने को ढकेलती हैं; कान सुनने का व्यापार छोड़ देते हैं; हाथ-पैर शिथिल होकर निन्द्रा में निढाल हो जाते हैं—तब भी मन स्वप्नों के सहारे अपनी दुनिया स्वयं बनाकर सोई हुई सब इन्द्रियों का कार्य-कलाप स्वयमेव करना शुरू कर देता है। उसे देखने के लिए सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता भी नहीं होती। वह बिना पैर के लाखों मील की यात्रा कर आता है और बिना प्रकाश के गहरे अंधेरे रास्ते में अपने ही प्रकाश में स्वयं विचरण करता है। उसे सूर्य की ज्योति का सहारा नहीं चाहिए।

वेदवाणी ऐसे सर्वसमर्थ, असाधारण वेगवान् और स्वयं ज्योतिधर मन को कल्याण पथ पर चलने का आदेश देती है। मन की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वह बुद्धि की बात भी नहीं मानता। बड़े से बड़े ज्ञान का उस पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता कि वह उसके वश में होकर कार्य करे। उसकी स्वतन्त्र वृत्ति ही उसके लिए घातक बन जाती है।

केवल मनुष्य की आत्मा ही उसे वश में कर सकता है। परमेश्वर की कृपा और साधना से बल पाकर जो आत्मा अपनी शक्ति को पहचान लेता है, आत्मवान् बन जाता है, वही मन को शिवसंकल्पों में युक्त कर सकता है। आत्मा की शक्ति को पहचानकर, उसे समर्थ बनाकर ही मन को अपने अधीन बनाना संभव है। आत्मा ही इस जीवन-रथ का सारथि है। सारथि प्रबुद्ध होगा तभी रथ अपने ध्येय तक पहुंच सकेगा। अन्यथा मन और इन्द्रियों के अधीन चलता हुआ रथ अंधकार भरे गहरे गड्ढों में गिरकर छिन्न-भिन्न हो जायगा।

६३

स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सं गमेमहि ॥

ऋक्० : ५।५१।१५।

हम सब मनुष्य (**सूर्याचन्द्रमसौ इव**) सूर्य और चन्द्र की भांति (**पुनर्ददतः अऽघ्नतः जानताः**) पुनः-पुनः नित्य नवीन दान देते हुए, किसी के विरोध में आये विना, स्वयं अपने मार्ग का ज्ञान पाकर (**स्वस्ति पन्थां**) कल्याण मार्ग पर (**संगमेमहि**) सम्यक् सबके साथ सहयोग करते हुए (**अनुचरेम**) अनुकूल भाव से चलते रहें।

विराट् विश्व का सब कार्य व्यवस्थित रूप से केवल इस-लिए चल रहा है कि इसका संचालन एक पूर्ण पुरुष के अधीन है और उसने एक पूर्ण विधान बना दिया है। जिसका पालन करती हुई सब दिव्य शक्तियां अपने निर्धारित मार्ग पर चल रही हैं। इन दिव्यशक्तियों में—सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि प्राकृतिक विभूतियों में कोई स्पर्धा नहीं है। सब अपना सहयोग देते हुए विश्व संचालन में ईश्वर को आज्ञा का पालन कर रही हैं।

वेमदाता मनुष्यों को आदेश देती है कि जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि देव परस्पर सहयोग से काम कर रहे हैं उसी

प्रकार तुम भी करो। मनुष्य भी यदि पूर्ण पुरुष भगवान् के आदेश का पूर्णतः पालन करे तो उसे नित्य नया ज्ञान देने या उसे अनुशासन में रहने की शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता न हो। किन्तु मनुष्य को भगवान् ने स्वयं विचार करके कार्य करने की भी तो स्वतन्त्रता दे रखी है—मनुष्य उसका दुरुपयोग करता है। सूर्य, चन्द्र आदि शक्तियां अपने कार्यों में स्वतन्त्र नहीं हैं। अतः उनके पथ-भ्रष्ट होने की आशंका नहीं होती।

अपनी बुद्धि से विचार करके अपना मार्ग बनाने की क्षमता वाले मनुष्य को वेद यह आदेश देता है कि वह विरोध-भाव का परित्याग कर सहयोग-भाव से चले। सहयोग के मूलभूत आदर्शों का निर्धारण करते हुए वेद ने निर्देश दिया कि मनुष्य में निरन्तर दान देने की भावना, अहिंसा और सब कार्य खूब सोच-समझकर करने की भावना प्रमुख रहनी चाहिए।

दूसरों के सुख में अपना सुख और दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति मानना सबसे ऊंची दान-भावना है। ईश-कृपा से जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त होता है वह अपने ही उपयोग के लिए नहीं बल्कि दूसरों को देने के लिए होता है। समस्त जीवन दान-भावना पर आश्रित है।

अपना उत्कर्ष करते हुए दूसरे को हानि न पहुँचाना भी वेदविहित आदेश है। संसार के सब कल्याणकार्य इन्हीं आदर्शों के अनुसार हो रहे हैं।

६४

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

ऋक् : १।८९।८

हम (**यजत्राः**) यज्ञप्रिय लोग (**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम**) कानों से शुभ ही सुनें (**भद्रम् अक्षभिः पश्येम**) आंखों से शुभ ही देखें। (**स्थिरैः अङ्गैः तनूभिः तुष्टुवांसः**) स्वस्थ अवयवों और स्वस्थ देह के कारण प्रसन्न मन से (**देवहितं आयुः व्यशेमहि**) ईश्वर-निर्धारित आयु का सेवन करें।

मनुष्य कितने ही ऊंचे लक्ष्य तक पहुंचने का संकल्प लेकर ऊंचे आदर्शों को माने, उसका व्यवहार प्रतिदिन के अच्छे-बुरे वातावरण के अनुसार ही बनता है। वातावरण उन घटनाओं और बातों से प्रभावित होता है जिन्हें वह देखता है या सुनता है। सज्जन व्यक्तियों के सत्संग से ही वह श्रेष्ठ बनता है और उत्तम वार्ताओं को सुनकर विचार श्रेष्ठ बनते हैं।

इसीलिए वेदमाता के शब्दों में हमें प्रतिदिन यह संकल्प करना चाहिए कि हम अपने कानों से भद्र बात ही सुनेंगे। साधारण मनुष्यों की रुचि या तो परनिन्दा के वाक्य सुनने की ओर होती है या क्षणिक कामोत्तेजन देनेवाली कपोल कल्पित वार्ताओं के सुनने-पढ़ने की ओर होती है। आज का लोकप्रिय

साहित्य ऐसी अभद्र बातों से भरा पड़ा है। ऐसे साहित्य से मनुष्य के मन में दुर्भावनाएं पैदा होती हैं। यही साहित्य है जो युवकों में अशिष्ट, अश्लील व्यवहार करने के कुसंस्कार डालता है। इनसे बचने का संकल्प करना चाहिए।

अभद्र दर्शन भी मनुष्य को अस्वस्थ बनाता है। यज्ञमय जीवन बिताने का प्रण लेने वाले मनुष्य को ऐसे अशुभ दर्शनों से दूर रहना ही योग्य है। ईश्वर ने विराट् विश्व को इतना भव्य बनाया है कि उसके दर्शनमात्र से जीवन में भव्यता और दिव्यता का संचार होता है। प्रकृति की रमणीयता हृदय में आध्यात्मिक आनन्द का सृजन करती है। यह संसार विधाता का सुन्दर काव्य है। उसकी लावण्यमयी लीला है।

भद्र-श्रवण और भद्र-दर्शन से मन प्रसन्न ही नहीं होता, तन भी नीरोग और बलिष्ठ होता है। मानसिक स्वास्थ्य का प्रभाव दैहिक स्वास्थ्य पर अवश्य पड़ता है। अतः हमें तन-मन दोनों को स्वस्थ सेवायोग्य बनाने के उद्देश्य से भद्र-श्रवण और भद्र-दर्शन का व्रत लेना योग्य है।

हमारा जीवन हमें केवल अपने भोग के लिए नहीं मिला। ईश्वर ने हमें दिव्य ईश्वरीय कार्यों को सम्पन्न करने के लिए यह वरदान स्वरूप दिया है। दीर्घायु होकर हम इस काम को अधिक सफलता से कर सकेंगे, इसीलिए हमें दीर्घायुष्य की कामना करनी चाहिए।

९५

अश्मन्वती रीयते संरभध्वं, वीरयध्वं प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा, अनमीवानुत्तरेमाभिवाजान्।।

अथर्व : १२।२।२६॥

(अश्मन्वती रीयते) विषम पथरीली नदी प्रवाहित हो रही है। **(संरभध्वं वीरयध्वं सखायः प्रतरता)** मित्रगण साहस, वीरता पूर्वक तैरना प्रारम्भ करो। **(ये दुरेवा असन् अत्रा-जहीत)** जो दुश्चरित्र हैं, प्रतिकूल हैं, उनका परित्याग करके **(अनमीवान् वाजान् अभि उत्तरेम्)** विशुद्ध हृदय के शक्ति-शाली मनुष्यों का सहयोग लेते हुए आगे बढ़ो।

जीवन एक बहती नदी है। उसका बहाव सीधा सरल नहीं। क़दम क़दम पर रुकावटें हैं। ऊंची नीची शिलाएं उसका रास्ता रोक लेती हैं। लेकिन नदी की धारा रुकती नहीं। कुछ धाराएँ दाएँ-बाएँ होकर आगे बढ़ जाती हैं, और कुछ टक्कर लेती हैं, शिला के शिखर पर चढ़कर और भी वेग से आगे बढ़ती हैं।

वेदमाता मनुष्यों को इन रुकावटों से घबराकर ठहर जाने की सलाह नहीं देती। वह सब प्रकार की बाधाओं से जूझते हुए पूरे उत्साह से आगे बढ़ने को उत्साहित करती है। उसका आदेश है—बाधाओं के होते हुए भी कार्य को सोत्साह प्रारम्भ

करो। जो प्रारम्भ करते हैं उन्हें ही भगवान् का सहारा मिलता है। किनारे पर बैठे रहने वालों का जीवन जीवन नहीं है। जो गतिशील या विकासोन्मुख न हो वह जीवन नहीं कहलाता।

साहस करके चलने वाले निरन्तर चलते हुए अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुँचते हैं। साहस वही करते हैं जिन्हें आत्मविश्वास होता है। आत्मबल से रहित मनुष्य किसी भी श्रेष्ठ कर्म के लिए तैयार नहीं होते। वे किसी कार्य को प्रारम्भ भी करते हैं तो विघ्न आते ही छोड़ देते हैं। विघ्नों से जूझने का साहस उनमें नहीं होता। यह साहस तपस्या और श्रद्धा से ही बनता है। श्रद्धाहीन मनुष्य बहुत शीघ्र हतोत्साह हो जाता है।

उन्नति पथ पर निरन्तर चलने के लिए यह भी आवश्यक है कि पुरोगामी व्यक्ति प्रतिगामी व्यक्तियों का साथ छोड़ दे। प्रत्येक समाज में एक वर्ग ऐसा होता है जो स्वभाव से आलसी और प्रतिगामी होता है। उसका कार्य केवल प्रत्येक शुभ काम में विघ्न डालना और आगे बढ़ने वालों को हतोत्साह करने तक ही सीमित हो जाता है।

ऐसे प्रतिकूल स्वभाव वालों का संग छोड़कर विवेकशील सच्चरित्र और उत्साही व्यक्तियों के साथ प्रभुनिर्दिष्ट मार्ग पर चलते हुए ही लक्ष्य-प्राप्ति हो सकती है। सरल हृदय के उत्साहशील व्यक्ति समाज में बहुत कम होते हैं। किन्तु उनकी अल्पसंख्या में जो बल होता है वह कुटिल और धूर्त बहुसंख्यक लोगों में नहीं होता। जीवन की पथरीली नदी को सफलता से पार करने का लाभ उन्हें ही मिलता है जो स्वयं साहस से आगे बढ़ते हुए सच्चरित्र, सत्पुरुषों का भी सहयोग प्राप्त करते हैं।

९६

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथम्, अथ जिर्विर्विदथमावदासि॥

अथर्व : ८।१।६॥

(**पुरुष ! ते यानम् उत् न अवयानम्**) हे पुरुषार्थी मनुष्य तेरी गति ऊपर की ओर हो, नीचे की ओर नहीं। (**ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि**) तुझे जीवन के लिए पूर्ण कुशल बनाया है (**अमृतं सुखं रथं आरोहेम**) अमृतमय रथ पर चढ़ो (**अथ जिर्विः वदथम्**) यदि शरीर से जीर्ण अनुभव करते हो तो भी प्रवचन करो (**मा अवद असि**) निष्क्रिय मौन न रहो।

मनुष्य योनि प्राप्त करने वाले सौभाग्यशील जीवों को स्मरण रखना चाहिए कि यह मानव देह उनके पूर्व संचित पुण्य-कर्मों के फल का ही पुरस्कार है। किसी भी अन्य जीव को ऐसे सौभाग्य की देन नहीं मिली। मनुष्य का ही यह अधिकार है कि वह बुद्धिबल से, तपोबल से और सत्कर्मों के प्रभाव से ऊंचा उठ सकता है।

ऊंचा उठने का अभिप्राय है कि साधक प्रभु के विशुद्ध आनन्द का अधिकारी बन सकता है। अमृतत्व पाने योग्य हो सकता है। स्वाभाविक प्रवृत्तिगत कार्य तो सभी जीव भी करते हैं। उसके लिए नवीन ज्ञान और अनुभव की आवश्यकता

नहीं। मानव का आत्मा ज्ञानमय है। जिज्ञासु होना उसके लिए स्वाभाविक कर्म है।

भगवान् ने इस बौद्धिक व्यापार का अधिकारी मनुष्य को ही बनाया है। वेदमाता प्रत्येक मनुष्य को स्मरण दिलाती है कि उसे ऊंचे उठने का बल और कौशल भगवान् के वरदान से स्वयं प्राप्त है। भगवत्कृपा से मनुष्य को बुद्धि मिली है और अन्तःकरण में परम चैतन्य का रहस्य जानने का स्वाभाविक कौतूहल भी।

मनुष्य अपनी विवेक बुद्धि से सत्यासत्य की परख कर सकता है। सत्य की खोज में यत्नशील होना भी उसके हाथ में है। अपने मार्ग का विधायक भी वह स्वयं है। सत्य की खोज में यदि वह थक जाये तो वेदवाणी आश्वासन देती है कि उसके विश्रान्त हृदय को अवलंब देने के लिए अमृतमय रथ भी उसके संग ही चल रहा है। थका हारा यात्री जैसे रथ पर बैठकर शेष यात्रा पूर्ण कर सकता है ऐसे ही अमृतपथ का यात्री अमृतरथ पर बैठकर अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है।

अपने अनुभवसिद्ध सत्यज्ञान को प्रसारित करना भी इसी अमृतयात्रा का अंग है। ज्ञानयात्री की सार्थकता ज्ञान-दान में ही है। ज्ञानगंगा के प्रवाह को निरंतर बनाये रखना प्रत्येक ज्ञानी का कर्त्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य का ईश्वर विहित धर्म है कि वह उत्कर्ष के शिखर पर अकेला ही न चढ़े बल्कि अपने समाज को भी ले जाये। अपनी ही उन्नति में संतुष्ट व्यक्ति को अमृतपद प्राप्त नहीं होता। इसीलिए कर्मयोगी महापुरुष समाज का मानापमान सहकर भी सबको अपने साथ ऊपर की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। यही सच्चा पुरुषार्थ है। इसी कारण ज्ञानयोगी से कर्मयोगी को ऊंचा माना गया है।

९७

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। अधि विश्वा विराजति।

यजु : १।३।१०।१२॥

(**सरस्वती पावका वसु वाजिनीवती**) पवित्र ज्ञान का प्रकाश करने वाली वाणी प्राणदा सरस्वती (**वाजेभिः**) अपने ज्ञान सामर्थ्य से (**धिया**) और बौद्धिक शक्ति से (**नः यज्ञं वष्टु**) हमारे सभी शुभ कर्मों में योग दे। (**सरस्वती केतुना महो अर्णः प्रचेतयति**) पवित्रवाणी अपने ज्ञान से संसार महासागर को चैतन्य बनाती है (**विश्वा अधि विराजति**) और समस्त विश्व को प्रकाशित करती है।

वाणी का वरदान प्रत्येक प्राणी को मिला है। किन्तु जीव-जगत् में सार्थक वाणी पाना अमृतपुत्र मनुष्य का ही सौभाग्य है। वाणी ही ज्ञान की वाहिका है। ईश्वरीय ज्ञान की माध्यम वेदवाणी है। यही वह वाणी है जिसके द्वारा ईश्वरीय ज्ञान का प्रसारण हुआ। ज्ञान का प्रकाश करने के कारण ही उसे वाजिनीवती कहा गया है। अपने माधुर्य से हृदय में आनन्दरस प्रवाहित करने के कारण वह सरस्वती है। सरस्वती बनकर वही ज्ञान, संगीत और कला का प्रतीक बन गया है।

इन रसप्रवाही ज्ञान-किरणों के स्पर्श से केवल मनुष्य का अन्तःकरण ही आप्लावित नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान-सागर नई चेतना से प्रकाशित हो जाता है। संसार के प्रसुप्त हृदय में यह वाणी नये आलोक की सृष्टि कर देती है। इस दिव्य आलोक का अलौकिक प्रकाश विराट् विश्व की विषम अन्धकार भरी खाई में पहुंचता है।

साधक भगवान् से प्रार्थना करता है कि सरस्वती का यह प्रकाश उसके सब यज्ञ-कार्यों में प्रतिबिंबित हो। किसी भी अनुशासित कल्याण कर्म को यज्ञ की संज्ञा दी जाती है। वाणी का ज्ञान यदि विचारों तक सीमित रह जाये तो व्यवहार में नहीं उतरता। ज्ञान की सार्थकता व्यावहारिक बनने में ही है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ज्ञान भी निरुपयोगी है यदि वह व्यवहार में नहीं आया।

जो विचार व्यावहारिक नहीं बनता वह पुस्तकों में बन्द ज्ञान की तरह ही निरर्थक रह जाता है। साधक की साधना तभी सफल होगी यदि वह अपने व्यवहार को ज्ञान के अनुकूल बनायेगा। ज्ञान को व्यावहारिक बनाने के लिए भी साधना करनी पड़ती है। सम्पूर्ण कर्मयोग का यही लक्ष्य है।

कर्मयोग ज्ञानयोग से कठिन है। वाणी के माध्यम से ज्ञान का प्रसार सुगमता पूर्वक हो जाता है किन्तु उस ज्ञान के प्रकाश से जब तक ज्ञानी के व्यवहार में श्रेष्ठता नहीं होगी तब तक वह ज्ञानी अज्ञानी ही कहलायेगा।

९८

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।
मधु नक्तमुतोषसो, मधुमत्पार्थिवं रजः,
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।

ऋक् : १।९०।६,७।।

(**वाता मधु ऋतायते**) वायु नित्य मधुर प्राणों का सृजन करता है, (**सिन्धवः मधु क्षरन्ति**) सागर मधुर क्षरण करते रहते हैं (**ओषधीः माध्वीः सन्तु**) ओषधि अन्नादि मधुर होते हैं। (**नक्तम् उत उषसः मधु**) रात और दिन मधुमय हों। (**पार्थिवः रजः मधुमत्**) पृथिवी का कण कण मधुमय हो (**द्यौः नः पिता अस्तु**) अन्तरिक्ष की सब देवशक्तियां हमारा रक्षण-पोषण करती रहें ।

मनुष्य-स्वभाव की यह निर्बलता है कि जो कुछ उसे सुलभ प्राप्त हो उसके प्रति उपेक्षित हो जाता है और उसे देने वाले का स्मरण तक नहीं करता। यह स्वभाव उसे अकृतज्ञ बना देता है । प्राकृतिक दैवी वरदानों के प्रति भी मनुष्य इसी लिए अकृतज्ञ रहता है । उनके उपकारों तथा उनके अधिष्ठाता देवाधिदेव परमेश्वर के प्रति नतमस्तक नहीं होता ।

अकृतज्ञता और अश्रद्धा के ये भाव उसके हृदय को उस

आनन्द से वंचित रखते हैं जो एक श्रद्धा-विभोर हृदय अनुभव करता है। श्रद्धा भावना मनुष्य की अन्य गौरवमयी भावनाओं को भी जाग्रत् करती है। स्वयं को भाग्यशाली मानने की आनन्द-मयी अनुभूति भी इसी भावना की अनुगामिनी है। वेदवाणी मनुष्य हृदय में इन मंगलमयी भावनाओं को जगाने के लिए ही स्मरण दिलाती है कि इन प्राकृतिक शक्तियों के उपकार को सदा याद रखे। प्रत्येक जीव प्राणों का अनवरत वरदान पाने के लिए पवन का ऋणी है। सागर के इस उपकार को भी कौन भूल सकता है कि वही सूर्य रश्मियों को जल देकर पृथ्वी की प्यास बुझाने का उपकार करता है। जीवमात्र को अन्न-ओषधि देने की भूमिका सूर्य ही तैयार करता है।

वनस्पति तथा अन्न देनेवाले पौधों और उन्हें अपनी ममता भरी कोख में धारण करने वाली जननी का उपकार भी कौन भूल सकता है। दिन और रात तथा उनके जनक सूर्य का भी विश्व-संचालन में जो महत्त्वपूर्ण योगदान है वह भी अविस्मर-णीय है। अकेले सूर्य ही नहीं अन्तरिक्ष के कोटि-कोटि ग्रह नक्षत्र, अनन्त ब्रह्माण्ड के दृश्य-अदृश्य, ज्ञात-अज्ञात दिव्य लोक भी मानव जीवन का सौभाग्य सृजन कर रहे हैं। मनुष्य की हर सांस का सम्बन्ध उनसे जुड़ा हुआ है। समस्त विश्व उस विराट् पुरुष का देह है।

वेदमाता इस दिव्य भावना का स्मरण अपनी दिव्यवाणी में कराती है। इस स्मरण से हृदय में गौरवमय आनन्द की जो अनुभूति होती है वह जीवन को धन्यता प्रदान करती है। इस आनन्द के कुछ क्षण प्राप्त करने के बाद मनुष्य का जीवन दिव्य समृद्धि से पूर्ण हो जाता है। वह कभी रिक्तता और शून्यता का दुःखद अनुभव नहीं करता।

६६

**शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥**

यजुर्वेद : ३६।१२॥

(**देवीः**) दिव्य मां (**आपः**) सर्वत्र व्यापिनी है । (**नः अभिष्टये**) हम सब की इष्टसिद्धि के लिए (**पीतये**) पूर्ण तृप्ति के लिए (**शम् भवन्तु**) मंगलमयी हो । और (**शं यो नः अभिस्रवन्तु**) सुख-समृद्धि की चारों ओर वर्षा करे ।

बिना माता के सन्तान नहीं होती । विश्व मानव की सृष्टि विश्वमाता के बिना संभव नहीं। जगत्पिता और जगन्माता ही समस्त मानवों को जन्म देकर पालन-पोषण करते हैं । माता के स्मरण मात्र से संतान में यह विश्वास पैदा हो जाता है कि माता हमारे सब मनोरथ पूरे करेगी । बच्चों को विश्वास होता है कि उनकी मां अनन्त शक्तिशालिनी है, वह आसमान से तारे तोड़कर ला सकती है। चाँद को जमीन पर उतार सकती है । नदियों का रुख बदल सकती है ।

इस अनन्त श्रद्धा के आधार पर ही जगन्माता की सन्तान वेदवाणी में अपने हृदय का प्रेम प्रकट करते हुए कहती है कि- हे मां ! तू हमारी इष्टसिद्धि के लिए मंगलमयी हो । सन्तान के लिए मंगलमयी होना माता के लिए अनिवार्य है। सन्तान की

मंगलकामना करना ही नहीं अपितु, मंगलकार्य की सिद्धि के लिए माता बड़े से बड़ा बलिदान करती है। स्वयं अतृप्त रहकर भी मां अपनी सन्तान को पूर्ण तृप्त देखना चाहती है।

पूर्ण तृप्ति के लिए संसार के प्रचुर वैभव देना ही पर्याप्त नहीं है। संसारी वैभव नश्वर हैं। उनसे तृष्णा मिटती नहीं बढ़ती है। तृप्ति भौतिक ऐश्वर्यों के भोगों से प्राप्त नहीं होती। तृप्ति के लिए सात्त्विक मनोअवस्था की आवश्यकता होती है। मन की वह अवस्था सत्य के सच्चे स्वरूप को पहचानकर उसके अनुकूल मन को ढालने से मिलती है। मन अनासक्त रहकर ही सत्य की उपासना कर सकता है। अनासक्त कर्म-योगी के लिए उपासना कर सकता है। अनासक्त कर्मयोगी के लिए पूर्ण तृप्ति पाना कठिन नहीं। आसक्त होकर संसारी कार्य करने वाला कभी तृप्त नहीं होगा। उसकी लालसा बढ़ती ही जायेगी। जगन्माता से पूर्ण तृप्ति का वरदान पाने वाला भक्त प्रार्थना करते ही हृदय में पूर्णता का आनन्द पाने लगता है।

आध्यात्मिक तृप्ति का आभास होते ही प्रार्थी यह अनुभव करने लगता है कि उसे आनन्द का मूल स्रोत ही नहीं मिला, बल्कि चारों ओर से आनन्द की वर्षा हो गई। हार्दिक आनन्द की धाराप्रवाह वर्षा में भक्त ओत-प्रोत हो जाता है।

१००

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो राज्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।

ऋक् : १०।१९०।१-३ ।।

सृष्टि-सृजन से पूर्व सर्व प्रथम परमेश्वर के (**अभि इत् धात् तपसः**) अन्तर्वर्ती तप से (**ऋतं च सत्यं च अध्यजायत**) शाश्वत नियमों और व्यावहारिक सत्यों की अभिव्यक्ति हुई। (**ततः रात्रि अजायत**) तब सृष्टि का अन्धकारमय अव्यक्त रूप प्रकट हुआ। (**ततः अर्णवः समुद्रः**) उसके बाद जलीय तत्त्व का आविर्भाव हुआ। (**विश्वस्य मिषतः वशी**) विश्व-सृजन की कामना से, परमेश्वर की शक्ति से (**समुद्रात् अर्णवात्**) जलीय सृष्टि के बाद (**संवत्सर अजायत, अहोरात्राणि विदधत्**) काल-विभाजन हुआ और दिन तथा रात्रि की पृथक् व्यवस्था हुई। (**धाता यथापूर्वं सूर्याचन्द्रमसौ दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षं च**) विधाता ने सदा की भांति अन्तरिक्ष और पृथिवी को (**स्वः अकल्पयत्**) तथा सुख-सुविधा की सब सामग्री को रचा।

जैसे किसी भी संस्था या प्रतिष्ठान बनाने से पूर्व उसके नियम-उपनियम बनाये जाते हैं वैसे ही विशाल विश्व की रचना करने से पूर्व परमेश्वर ने कुछ ऐसे शाश्वत नियमों की रचना की जो सदैव सत्य रहेंगे। उनमें अपवाद नहीं हो सकता और उनके प्राकृत रूप में भी परिवर्तन नहीं होता। इन नियमों में से कुछ सदा सत्य, अपरिवर्तनशील प्राकृत नियम हैं और कुछ व्यावहारिक नियम। प्राकृत और शाश्वत नियमों को ऋत कहा गया तथा व्यावहारिक नियमों को सत्य माना गया।

ऋत और सत्य की योजना के बाद भगवान् के संकल्पमात्र से अन्तरिक्ष जगत् के अणु-परमाणु विचलित हो उठे। अन्तरिक्ष एक महान् अन्धकारमय सागर बन गया। इसके उपरान्त उस तमोमय नभोमण्डल का देश-काल में विभाजन हुआ। अहोरात्र बने तथा पृथिवी द्युलोक, अन्तरिक्ष बनने के साथ सूर्य-चन्द्र आदि भी यथापूर्व बने।

यथापूर्व बनने की प्रक्रिया से ज्ञात होता है कि सृष्टि बनने की यही विधि अनादिकाल से चली आई है। प्रकृति तत्त्वों का यथापूर्व संयोजन सर्वनियन्ता भगवान् सृष्टि के प्रारम्भ में यथा-पूर्व करते हैं। ऋत और सत्य में परिवर्तन नहीं होता। सम्पूर्ण विधि-विधान चला आया है।

१०१

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो, रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

अथर्व : ३।२७।४॥

(**उदीची दिक् अधिपतिः सोमः**) उत्तर दिशा एवं उन्नति पथ का अधिनायक सोम है। वह (**स्वजः रक्षिता, अशनिः इषवः**) स्वयंभू है, रक्षक है और अमंगल वेधक बाण चलाने वाला है। उन्हें हमारा नमस्कार हो, अधिपति को नमस्कार हो (**तेभ्यो नमः, अधिपतिभ्यो नमः, रक्षितृभ्यो नमः, इषुभ्यो नमः**) प्राण रूपी बाणों को नमस्कार हो। (**एभ्यो अस्तु**) इन सबके प्रति हमारा नमस्कार है। (**यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः**) जो हमसे द्वेष करते हैं, जिसे सब द्वेष करते हैं, उस पाप समूह को (**वः जम्भे दध्मः**) हम आपके चरणों में रखते हैं।

प्रत्येक दिन सन्धिवेला में भगवान् को नमस्कार करते हुए भक्त निवेदन करे कि आप ही मेरी उन्नति के पथ-प्रदर्शक सोम हैं। आपका पथप्रदर्शक कोई नहीं। आप स्वयंभू हैं। स्वयं ही अपनी ज्योति से प्रकाशमान हैं।

भगवान् मंगलकारी ही नहीं अमंगल करने वालों का नाश करने वाले और उनसे रक्षा करने वाले भी हैं। परमेश्वर के

अमंगलनाशक गुणों को नमस्कार करना हमारा धर्म है। नमस्कार करते हुए हम कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं और भविष्य में भी सदैव रक्षा करने की विनति करते हैं।

विराट् ब्रह्माण्ड में जितनी रचनात्मक शक्तियां हैं उतनी ही विनाशक शक्तियां भी कार्य कर रही हैं। सृष्टि और प्रलय, जन्म और मृत्यु, निर्माण और विनाश सर्वत्र सब काल में साथ ही साथ चल रहे हैं। निर्माण भी ईश्वर के हाथ में है, विनाश भी ईश्वर के हाथ में। विनाश से रक्षा करना भी उसी के हाथ में है। हम अल्पशक्ति वाले मनुष्य इतनी विशाल विनाशक शक्तियों से अपनी रक्षा अपने बल पर नहीं कर सकते।

हम केवल परमेश्वर की अदालत में जाकर अपने से शत्रुता करनेवालों को दण्ड देने की प्रार्थना कर सकते हैं। परमेश्वर के कानून को हम पूरी तरह अपने हाथ में नहीं ले सकते। अपने दण्ड-विधान की व्यवस्था वह आप ही कर सकता है।

न्यायाधीश वही है ; अपराधी को दण्ड देना उसके ही हाथ है। निर्णायक वही है हमारा निर्णय दोषपूर्ण हो सकता है। और हम अन्याय करके अपराधी को उसके अपराध से अधिक या कम दण्ड दे सकते हैं।

वेदमाता का आदेश है कि हम अपना अपकार करने वाले को भी ईश्वरीय न्यायालय के सुपुर्द कर दें। स्वयं शान्तभाव से कर्तव्य-मार्ग पर चलते जायें।

१०२

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

यजु०: १७।९१॥

(**अस्य चत्वारि शृङ्गाः**) उसके चार सींग हैं, (**त्रयः पादाः**) तीन पैर, (**द्वे शीर्षे**) दो सिर और (**सप्त हस्तासः**) सात हाथ हैं। यह (**वृषभ**) वृषभ (**बद्ध**) बंधा हुआ है। (**रोरवीति**) घोष करता है। ऐसा वृषभ (**महोदेवः**) महान् देव (**मर्त्यां आविवेश**) प्रत्येक मनुष्य में आविष्ट है।

जिस महान् दिव्य परम पुरुष का इस वेद-मन्त्र में वर्णन है उसके चार सींग हैं। शृंग शब्द ज्ञान के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। चार वेद उसके ज्ञान शृंग हैं। तीन पैरों से लक्षित हैं—मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ। इन तीन से हम कार्य करते हैं। ये तीनों अत्यन्त गतिशील हैं। इन तीन की सहायता से हम दिन-रात चलते हैं। मन का वेग संसार के किसी भी वेगवान् परिवहन से या गतिशील तत्त्व से अधिक होता है।

दो सिर होने का अभिप्राय द्वन्द्वात्मक चिन्तन से है। मनुष्य का समस्त व्यक्तित्व द्वन्द्वात्मक है। उसमें क्षुधा, पिपासा है, तृप्ति भी है, आशा-भावना के साथ नैराश्य भी विद्यमान है। ज्ञान-अज्ञान, राग-द्वेष, क्रोध-शान्ति, दया-क्रूरता आदि सभी

द्वन्द्वात्मक भावनाएं एक साथ हैं। वह सात हाथों वाला है। हाथ ज्ञानेन्द्रियों का संकेत करते हैं। ये सात इन्द्रियां सब प्रकार के ज्ञान को ग्रहण करती हैं।

वह तीन रज्जुओं में बंधा हुआ है। ये तीन कर्म, ज्ञान और भक्ति का संकेत करते हैं। वृषभ, दया-दान की वर्षा करने वाला परमेश्वर सत्कर्म, सत्यज्ञान और सच्ची भक्ति से प्राप्त एवं संयुक्त किया जा सकता है। श्रेष्ठ कर्म, ज्ञान और भक्ति द्वारा वह प्रेम-बंधन में बांधा जा सकता है। ईश्वर निराकार है, अदृश्य है। किसी विशेष आकार में प्रकट नहीं होता। लेकिन वह सर्वत्र है, हृदयस्थ है। प्रशान्त और निर्मल मन में उसका प्रतिबिम्ब सहज ही पड़ता है।

वेद की कविता मुख्यतया प्रतीकात्मक है उसमें प्रतीकों के माध्यम से गहन से गहन ज्ञान को स्पष्ट किया गया है। इन्द्र, अग्नि, सूर्य, मित्रवरुण आदि सब भगवान् की विभिन्न शक्तियों के द्योतक, प्रतीक ही हैं। वृषभ भी भगवान् के सामर्थ्यवान् रूप का प्रतीक है एवं मन्त्रवर्णित शृंग, पाद, रज्जू आदि प्रतीकात्मक हैं। इन प्रतीकों को प्रतीक मानकर ही मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को समझना चाहिए।

१०३

अन्तस्ते दधामि द्यावापृथिवी दधाम्यन्तरुर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवैरवरैःपरैश्च अन्तर्यामे मघवन्मादयस्व ॥

यजु० : ७।५॥

मैं ईश्वर (**ते अन्तः द्यावापृथिवी दधामि**) तेरे अन्तर में ही द्युलोक और पृथिवीलोक स्थापित करता हूँ (**उरु अन्तः अन्तरिक्षे दधामि**) हृदय प्रदेश में अन्तरिक्ष की स्थापना करता हूँ। (**अवरैः परैः च देवैः सजूः**) दूर पास के देवताओं से सेवित होते हुए (**हे मघवन् मादयस्व**) हे आत्मन्! आनन्द का भोग कर।

मनुष्य अपने आपको मिट्टी का पुतला या हाड़ मांस का नश्वर पिंड मान लेता है तो उसका जीवन नैराश्य की छाया में अंधकारमय हो जाता है। अपनी नश्वरता और अनुपयोगिता का विश्वास होने पर उसे अपने अस्तित्व से निराशा होने लगती है। स्वयं को क्षुद्र, दीन, हीन समझकर वह सामान्य व्यवहार में भी अधीर, असहिष्णु और हीन भावना ग्रस्त हो जाता है।

उसकी हीन भावना को गौरवमयी बनाने तथा उसके मन में आशा और उत्साह की उमंग को जगाने के लिए उसे भगवान् वेदमाता के स्वर में दिव्य सन्देश देता है कि तुम अमृतपुत्र हो। विराट् विश्व के शरीर में जैसे मस्तक पर तारा-

मण्डित द्युलोक है और अधोभाग में पृथिवीलोक है वैसे ही तुम्हारे शरीर में भी मैंने ज्योतिर्मय द्युलोक को प्रतिष्ठापित किया है। तुम्हारे शिरोभाग में शतशः ज्ञान-कोष हैं जो सूर्य का प्रकाश न होने पर अपने भीतर से प्रकाश ग्रहण करते हैं।

ब्रह्माण्ड में जैसे सूर्य और चन्द्र प्रकाश के माध्यम हैं, वैसे तुम्हारे चक्षु भी प्रकाश के माध्यम हैं। विराट् जगत् परम ब्रह्म की काया है, तुम्हारे हृदय में आत्मा का निवास है।

अपने शरीर को आत्मा का मन्दिर मानो। इसे मिट्टी का खिलौना मत समझो। मानव शरीर बड़े सौभाग्य से मिलता है। परमेश्वर ने मानव शरीर देकर हमें जो वरदान दिया है उसके गौरव को समझते हुए हमें इस गौरव की रक्षा के लिये सदा यत्नशील रहना चाहिए।

पवित्र वेदवाणी द्वारा परमेश्वर आदेश देते हैं कि हे मघवन्! शरीरस्थ इन्द्र! मैंने तुम्हें विराट् ब्रह्माण्ड की ही प्रतिकृति दी है। तुम अपनी दिव्यता को समझो और दूर-पास की दैविशक्तियों से अनुकूलता बनाते हुए आनन्द का भोग करो। सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने श्रीमुख से मनुष्य को उसके सौभाग्य का स्मरण दिलाते हुए उसे अपने आनन्दमय अंश का भी वरदान देते हैं।

इस भगवद् वाणी को सुनकर भी जो अपने को दीन-हीन मानते हुए दुःखी रहते हैं वे अज्ञानवश ही होते हैं। परमेश्वर स्वयं वेदमाता के माध्यम से हमें हमारे गौरव का स्मरण दिलाते हैं।

१०४

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

यजु० : ४०।१ ॥

(**जगत्यां**) ब्रह्माण्ड में (**यत्किञ्च जगत्**) जो कुछ गतिशील है (**इदं सर्वं**) उस सबमें (**ईशावास्यम्**) ईश्वर का वास है, वह सब ईश्वर के स्वामित्व में है। (**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**) ईश्वर द्वारा प्रदत्त भोग का सेवन कर (**मा गृधः**) लालच न कर (**कस्य स्वित् धनम्**) यह धन किसका है ? केवल ईश्वर का।

जगत् में जो कुछ भी है सब ईश्वर का है। ईश्वर के अधीन है। मनुष्य को भोग के लिए जो कुछ भी प्राप्त है वह ईश्वरीय न्याय से उसे मिला है। किन्तु उसके उपयोग का ही अधिकार उसे मिला है, वह भी कुछ काल के लिए। उसका स्वामित्व ईश्वर का ही है। यात्रा-काल में जैसे यात्री को अपने पड़ाव पर विश्राम के लिए जो आवास मिलता है वह विश्राम के लिए ही होता है। विश्राम की वेला समाप्त होते ही यात्री सब कुछ छोड़कर आगे यात्रा प्रारम्भ कर देता है। उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आत्मा की अनन्त यात्रा का एक पड़ाव है। इस पड़ाव में कर्मयोग से उसे जो प्राप्त होता है वह कुछ दिन के लिए है।

मनुष्य उस पर अपना स्वामित्व मानकर अभिमानी हो जाता है। और अहंकारवश अपने हाथ में वह भी लेना चाहता

है जो इसे प्राप्त नहीं है। किन्तु जिसे पाने की इच्छा में वह अपनी मर्यादाएँ भूलकर दूसरों की भोग्य वस्तु का लोभ करने लगता है। वेदमाता का आदेश है कि मनुष्य की यह लोभवृत्ति उसे दुःखी बनाती है क्योंकि दूसरों के धन पर ललचाती नज़र डालते ही मनुष्य के मन की शान्ति भंग हो जाती है। वह प्रत्येक सफल मनुष्य से ईर्ष्या करने लगता है। जिस वस्तु को मनुष्य पाने की इच्छा करता है उसे दूसरों के अधिकार में देखकर उसका मन चंचल हो जाता है। वह भूल जाता है कि कोई भी वस्तु उसके अधिकार की नहीं है। अधिकारी तो एक भगवान् ही है।

भगवान् को ही सर्व-स्वामी मान लेने के बाद मनुष्य का मन सर्वथा प्रशान्त हो जाता है। और प्रशान्त चित्त व्यक्ति ही अध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति कर सकता है। अतः सबसे पूर्व तृष्णा-भावना को शान्त करना चाहिए, और कामनाओं का परित्याग करना चाहिए। कामनाओं की पूर्ति करने में ही जीवन की सफलता का ध्येय नहीं देखना होगा। कामनाओं की पूर्ति कभी नहीं होती। मनुष्य अतृप्त ही रहता है।

त्याग-भाव से भोगने का ईश्वरीय आदेश भी बड़ा क्रियात्मक है जो भोग कर्तव्य भाव से ही भोगा जाता है, उसमें दुःख और निराशा की झलक प्रतीत नहीं होती। ईश्वर के आदेशों में बड़ी स्पष्टता होती है। भोग तभी दुःखद होते हैं जब भोग-भावना से भोगे जाते हैं। भोग-भावना मिथ्या अहंकार को जन्म देती है। मिथ्या होने से वह अवश्य खण्डित होता है और खण्डित होने से मनुष्य का मन व्याकुल हो जाता है। निराशा में डूब जाता है। इसलिए वेद का आदेश है कि भोग की भावना का परित्याग करके भोग करो। इस प्रकार के भोग म दुःख नहीं हो सकता।

१०५

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

यजु० : ४०।१४।।

(**यः विद्यां च अविद्यां च उभयं सह वेद**) जो ज्ञान और कर्म दोनों का रहस्य जानता है, वह कर्मयोग द्वारा संकटों से मुक्ति पाकर ज्ञानयोग द्वारा अमृतत्व के लक्ष्य पर पहुंच जाता है।

जीवन की पूर्णता के लिए भौतिक उत्कर्ष और अध्यात्म-अनुभूति दोनों की आवश्यकता है। भौतिक उत्कर्ष भौतिक ज्ञान और कर्म के आधार पर ही संभव है। भौतिक साधना को पुरुषार्थप्रधान होने से अविद्या कहा गया है। ज्ञानप्रधान होने से अध्यात्म-ज्ञान को ही विद्या की उपाधि दी गई है। इन दोनों को परा, अपरा विद्या भी कहते हैं। संभूति और असम्भूति भी इन दोनों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। वस्तुतः ये परस्पर विरोधी भी नहीं अपितु पूरक हैं। भेद केवल प्राधान्यता का है।

वेदमाता का आदेश है कि मनुष्य जीवन की पूर्ण सफलता के लिए कर्मयोग भी उतना ही आवश्यक है जितना ज्ञानयोग। सत्कर्म में निरन्तर युक्त रहना भी उतना ही श्रेयस्कर है जितना सत्य-ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करना। दोनों की साधना से ही

सिद्धि प्राप्त होती है। एकपक्षीय साधना से साधक अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकता।

साधक यदि कर्महीन रहकर केवल ज्ञानमार्ग अपनाने का यत्न करेगा तो उसका ज्ञान अधूरा रह जायेगा। इसी प्रकार यदि वह ज्ञानहीन पुरुषार्थ करेगा तो अज्ञानी रहकर अंधेरे रास्तों में भटक जायगा। अतः साधक का कर्तव्य है कि पहले वह कर्मप्रधान जीवन व्यतीत करते हुए सच्चा कर्मयोगी बनकर मृत्युञ्जयी बने। अपने सब कर्म कल्याण-भावना से करे और फल की आकांक्षा छोड़कर ईश्वरीय न्याय पर विश्वास रखते हुए सत्कर्मों में प्रवृत्त रहे। जीवन के सब पुरुषार्थ ईश्वर समर्पित करके परोपकार में रत रहे। मन में ईश्वर का ध्यान रखते हुए तन को सेवा कार्य में लीन कर दे। भोग में अनासक्त रहकर केवल कर्तव्य-भावना से श्रेष्ठ कर्म करता रहे।

इस प्रकार सदैव सत्कर्म करता हुआ कर्मयोगी साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेगा, मृत्यु भय से मुक्त हो जायगा। किन्तु अमृतत्व की प्राप्ति उसे तभी होगी जब वह आत्मज्ञान प्राप्त करेगा। आत्मज्ञान ही उसे देहभाव से मुक्त करके आत्मतत्त्व की अनुभूति देगा और इसी से वह विश्वात्मा की समीपता, उसकी विशालता और नित्यता की प्रतीति अनुभव कर सकेगा। प्रबुद्ध आत्मा ही विश्वात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। कर्मयोग की सफल साधना से मन की शुद्धि होती है, दुःखों का अन्त होता है, अन्तर्यामी आत्मा का दर्पण स्वच्छ होता है, निर्मल और प्रशान्त आत्मा में भगवान् की ज्योति का प्रतिबिम्ब अनायास पड़ता है। उस ज्योति से साधक को दिव्य दृष्टि मिलती है। वह समस्त विश्व के नाना रूपों में एक ही रूप की झलक देखता है। उसकी प्रज्ञा विश्व में

व्याप्त अमरता का साक्षात् अनुभव करने लगती है। अमर तत्त्व के इस साक्षात्कार से, स्पर्श से वह स्वयं भी उस अमरतत्त्व का अंग बन जाता है बिलकुल वैसे ही जैसे चुम्बक के स्पर्श से साधारण लोहा भी चुम्बक हो जाता है और पारसमणि के स्पर्श से पाषाण भी मणि में बदल जाता है।

१०६

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ।।

यजु० : ४०।१६ ।।

(**अग्ने**) हे ज्योतिः स्वरूप (**अस्मान् सुपथा राये नय**) हमें अच्छे मार्ग से श्रेष्ठ धन, यश, सम्पदा अर्जित करने के मार्ग पर ले चल। (**देव ! विश्वानि वयुनानि विद्वान्**) हे देव ! तुम हमारे सब कर्मों को जानते हो। (**अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि**) हमें कुटिलताओं और जघन्य पापों को बारबार नष्ट करने की क्षमता दो। हम (**ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम**) आपके प्रति बहुत नम्र भाव से यह विनय कर रहे हैं।

साधना-मार्ग पर चलते हुए साधक को सदैव प्रभु के मार्ग-दर्शन का आश्रय लेना पड़ता है। प्रभु किसी को सम्पत्ति या यश का प्रत्यक्ष प्रदान नहीं करते। वे केवल मार्ग-दर्शन करते हैं। यह बात साधक भी जानता है, इसीलिए वह जगत्-नियन्ता प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि उसे सच्चे मार्ग पर ले चले।

सच्चा मार्ग-दर्शन प्रभु ही कर सकते हैं, क्योंकि वही हैं जो मनुष्य के सब कर्मों और विचारों का ज्ञान रखते हैं। अन्य कोई नहीं जो इसका सच्चा ज्ञान रखता हो। मानव स्वभाव

है कि वह अनेक कर्म समाज से छुपकर करता है। अकल्याण-कारी कर्म तो सबकी नज़र बचाकर परदे में ही किये जाते हैं। समाज को धोखा देते-देते मनुष्य कई बार अपने को भी धोखा दे जाता है। सब जानते बूझते हुए भी वह बुरे काम कर लेता है और फिर झूठी दलीलों से मन को समझाते हुए अपने को ही ठगने की कोशिश करता है। मनुष्य अपने को ठगने में भले ही सफल हो जाय ईश्वर को नहीं ठग सकता, क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है। वह मनुष्य के अन्तर्मन में उठे उन विचारों को भी जानता है जो न तो वाणी पर आये और न कर्म में परिणत हुए।

इसीलिए साधक भगवान् से कहता है—'आप मेरे सभी' विचारों और कर्मों का ज्ञान रखते हो। इस स्वीकारोक्ति के साथ मनुष्य का अहंकार नष्ट हो जाता है। अहंकार प्रायः झूठ के सहारे खड़ा होता है। सचाई के पानी से झूठ की दीवार गिर पड़ती है। अतः साधक को स्वीकार करने का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए। अभ्यास में निरन्तरता इस-लिये भी आवश्यक है कि मनुष्य को बुराई से निरन्तर युद्ध करना पड़ता है। जाग्रत् अवस्था में उसका अन्तर्मन काम, क्रोध, लोभ, मद मत्सर से पूरी तरह रिक्त नहीं हो पाता।

इसीलिए कुछ बिरले असामान्य सिद्ध व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी सामान्य मनुष्यों को अशुभ कर्मों और विचारों पर विजयी होने के लिए प्रतिक्षण भगवान् की शरण जाने और विनय पूर्वक निवेदन करना पड़ता है कि भगवन्! आप ही हमें सुपथ पर निरन्तर चलने में सहायता दें। इस श्रद्धा के बिना महान् से महान् आत्मा भी अपने अन्दर बाहर के युद्धों में विजयी नहीं बन सकता। आत्मा में परमात्मा के प्रति यह विनम्र भाव प्रतिक्षण बना रहना चाहिए।

१०७

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।।

यजुर्वेद : ३५।१४ ।।

(**वयं तमसः परि उत्तरं स्वः उत्पश्यन्त**) हमने अज्ञान-अन्धकार से ऊपर उठकर आनन्द की अनुभूति की है, उज्ज्वल प्रकाश देखा है। हमने (**देवं सूर्यम्**) देव सूर्य की (**उत्तमं ज्योतिः**) सर्वोत्कृष्ट ज्योति स्रोत तक (**वयं देवत्रा अगन्म**) हम दिव्य प्रकाश के यात्री पहुँचे हैं।

साधक जीवन में प्रतिदिन सच्चे मन से प्रभु का स्मरण करते हुए मिथ्या माया के अन्धकार पूर्ण मार्गों से विरक्त होकर सत्य ज्ञान के प्रकाश में चलते हुए एक दिन ऐसे शिखर पर पहुँच जाता है जब वह साधिकार यह कह सकता है कि "अब मैंने अन्धकार का रास्ता छोड़ दिया है। मेरी आँखें खुल गई हैं। मैंने संसार के विषय भोगों की झूठी चमक-दमक का रहस्य जान लिया है। उनके मिथ्या होने का मुझे विश्वास हो गया है। मैं उनसे पूर्णतः विरक्त हो गया हूँ। और सत्य के मार्ग पर चलकर अब मुझे ऐसी प्रकाश-किरण दिखलायी दे गई है जिसने मेरी आत्मा को अपूर्व आनन्द में विभोर कर दिया है।"

आध्यात्मिक आनन्द के प्रथम अनुभव पर ही व्यक्ति के मन में ये उद्गार फूटते हैं। उसका हृदय नवीन निर्मल ज्योति के स्पर्श से इतना विभोर हो जाता है कि उसकी वाणी अन्तरात्मा के इन उद्गारों को प्रकट करने में विवश हो जाती है।

वेदमाता ने बार-बार सावधान किया है कि परम सत्य का पात्र सुनहरे मायाजाल से आच्छादित है, आवृत है। उस सत्य को निरावृत करने के लिए पुरुषार्थ करो। सामान्यतया हम उस सुनहरे मायाजाल को ही अपना अभीष्ट मानकर उसमें उलझ जाते हैं। हमारी आंखें उसके जंजाल में जो अन्धकार और दुःख भरे हुए हैं उन्हें नहीं देख पातीं। किन्तु जिस साधक ने ज्ञान प्राप्त कर लिया है और निरन्तर साधनों से सत्य को ढककर रखने वाले मायावी पात्र को उठाकर सत्य के दर्शन कर लिये हैं उनकी तामसी वृत्तियों का सर्वथा अन्त हो जाता है और वह नवीन ज्योति के मार्ग पर चलता हुआ अधिकार पूर्वक कह सकता है कि उसे आनन्द के ज्योतिःस्रोत के दर्शन हो गये हैं।

तब उसके हृदय-कोश में ऐसे ज्योतिसूर्य का उदय हो जाता है जिससे उसके अन्तर्मन का अन्धकार भी स्वयं नष्ट हो जाता है। और उसे प्रतिक्षण अन्तर्द्वन्द्वों से युद्ध नहीं करना पड़ता। अध्यात्म ज्योति के सूर्य का उदय होने पर संसारी विषय भोग, अन्धेरे में पलने वाले पाप स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

१०८

**चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥**

यजु० : ७।४२ ॥

(**चित्रं देवानाम् अनीकम् उदगात्**) वह आश्चर्य पूर्ण शक्तियों का स्वामी देवता हमारे समक्ष आ गया। (**स मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः**) वह देव मित्र, वरुण, अग्नि आदि सब का नेत्र है, मार्गदर्शक है। (**द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं**) इस आश्चर्य भरे नेत्र की ज्योति द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षलोक में (**आ प्राः**) पहुँची हुई है। वह सब का चक्षु है, मार्गदर्शक है।

साधक जब साक्षात्कार की स्थिति में आता है तो उसे विश्व के सभी रूपों में दिव्यता दिखलाई देने लगती है। गतिशील जगत् की प्रत्येक गति में, संसार के आचर्श्यजनक विधि-विधान में और लाखों वर्षों से विद्यमान शक्तिशाली ज्योतिर्मय ग्रह-नक्षत्रों में एक दिव्य शक्ति का हाथ दिखलाई देने लगता है।

उसे यह विशाल ब्रह्माण्ड एक विराट् पुरुष सदृश प्रतीत होता है जिसके मस्तक पर असंख्य तारों से मण्डित मुकुट है, अनन्त अन्तरिक्ष जिसका उदर है, सूर्य, चन्द्र जिसके मुखमण्डल

पर चक्षु के समान हैं। पृथिवी जिसके चरण समान है और आकाश से पृथिवी तक विस्तीर्ण द्युलोक जिसके उदर समान है।

अनुभूति के प्रथम चरण में साधक का ध्यान सब से पूर्व इस विराट् पुरुष के नेत्र पर केन्द्रित होता है। दिव्य पुरुष के नेत्रों की ज्योति से ही यह सूर्य-मण्डल ही ज्योतिष्मान् नहीं—अपितु ब्रह्माण्ड के शतशः सौरमण्डल उसके ही प्रकाश से प्रतिभासित हैं।

उसी ज्योतिः पुरुष की नेत्र ज्योति के संकेत पर समस्त लोक लोकान्तर अपने-अपने स्थानों पर स्थित हैं, सब ग्रह नक्षत्र निर्धारित मार्ग पर परिक्रमा कर रहे हैं। पृथिवी के कण-कण में उसी नेत्र से प्रसारित प्राण तरंगें प्रतिक्षण नया प्रणय कर रही हैं।

उन दिव्य चक्षुओं में सृष्टि का वह प्रथम प्राणबीज भी है जिससे जग प्राणित होता है और उसी नेत्र में महाकाल की विभीषिका भी छुपी हुई है। उसमें वह अनन्त करुणा और ममता भी है जो माता बनकर नवजात शिशुओं का ही नहीं पृथिवी और सागर की कोख में पैदा होने वाले कीट-पंतगों तक का पालन-पोषण करता है।

ब्रह्माण्ड के मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य प्राकृत शक्तियों की शक्ति के स्रोत भी उसी प्रजापति के नेत्र हैं। उन दिव्य नेत्रों का प्रथम दर्शन प्राप्त करके साधक का हृदयाकाश प्रदीप्त हो जाता है। उन नेत्रों के प्रकाश में उसे अपनी अमरता का मार्ग मिल जाता है।

१०९

अग्निर्वृत्राणि जंघनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥४॥

साम पूर्व० : १।१।४ ॥

(**समिद्धः शुक्रः आहुतः अग्निः**) अच्छी तरह उद्दीप्त, चमकती हुई और आहुति से प्रज्वलित मेरी जीवन-अग्नि (**द्रविणस्युः**) धन, यश, वैभव देने वाले (**विपन्यया**) विशिष्ट मंगल स्रोतों से (**वृत्राणि जंघनत्**) मेरी अमंगलकारी वृत्र-भावनाओं को नष्ट कर दे ।

मनुष्य जीवन एक यज्ञ है । यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए जैसे समिधाएँ डाली जाती हैं ऐसे ही जीवन-यज्ञ की अग्नि को जलाने के लिए ज्ञान और कर्म की समिधाएँ अर्पित की जाती हैं । मनुष्य प्रतिक्षण कर्म करता है—प्रतिक्षण समिधा डालता है । अकेला मनुष्य अपने जीवन यज्ञ को प्रज्वलित नहीं कर सकता । समाज के अनेक अंग, जिसमें माता पिता, आचार्य आदि सब सम्मिलित होते हैं, व्यक्ति की जीवन-अग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए स्नेह की समिधाएँ डालते हैं ।

अकेले जीवन की यज्ञाग्नि भी जब तक विश्वयज्ञ की समिधा न बने तब तक उसकी सार्थकता नहीं होती । हमारे जीवन की आग यदि ब्रह्माण्ड की विशाल अग्नि का अंग न

बने तो उससे ज्वाला नहीं निकलती। जो आग ज्वाला नहीं बनती वह बुझ जाती है।

मनुष्य की जीवन अग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए अन्न चाहिए। घृत चाहिए, अन्न की आहुति देनी पड़ती है। घृत की आहुति देनी पड़ती है। ज्ञान की भी आहुति देनी पड़ती है। ये कार्य साहस से होते हैं। उत्साह से होते हैं। भावनाओं को प्रदीप्त करने से होते हैं।

किन्तु भावनाओं के वृत्रों ने घेरा डाल रखा है। प्रमाद, आलस्य, क्रोध, द्वेष, आदि ऐसे वृत्र हैं, जो मानव की सद्भावनाओं को तीव्र नहीं होने देते। भय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ऐसे वृत्र हैं जो मनुष्य की यज्ञाग्नि को प्रज्वलित नहीं होने देते।

यज्ञाग्नि को उज्ज्वल बनाने के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना आवश्यक है। किन्तु हमारे वैयक्तिक स्वार्थ, धन का लोभ, कष्टों का भय, वृत्र या राक्षस बनकर हमारे यज्ञ में बाधक बन जाते हैं।

वेदमाता का आदेश है कि इन बाधाओं को दूर करने के लिए विविध रूपों में वाणी का प्रयोग करो। अपनी वाक्शक्ति से आत्मोत्सर्ग की भावना को प्रोत्साहन दो। अपने स्रोतों में, स्वर में ऐसा ओज पैदा करो जिससे अन्तःकरण की सद्भावनाओं को बल मिले और सोई हुई नसों में नये प्राण जाग उठें। जिससे आत्मोत्सर्ग या बलिदान के रास्ते को घेरकर खड़ी हो जाने वाली सब वृत्र भावनाएं नष्ट हो जायें।

श्रेष्ठ कार्यों को करने में हमारा उत्साह जब मन्द हो जाता है तब हम आत्मोत्सर्ग नहीं कर पाते और तब वाणी का जादू ही हमारे मन में नया उत्साह पैदा करता है।

११०

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥

साम पूर्व : १२६ ॥

(**अग्निमिन्धानः मर्त्यः**) अग्नि को प्रदीप्त करते हुए मनुष्य (**मनसा धिया सचेत**) मन से ध्यान करे कि (**विवस्वभिः अग्निम् इन्धे**) मैं विविध ज्योति दीपों से यज्ञाग्नि को ही प्रज्वलित कर रहा हूँ ।

अपने प्रत्येक कार्य में मनुष्य को अग्नि का सहारा लेना पड़ता है । कृषि के लिए सूर्य की अग्नि सहायक होती है । सूर्य के ताप से ही खेती पकती है । पृथिवी में बीज को अंकुरित करने की शक्ति बनती है । सूर्य स्थित अग्नि देवता ही सागर से जल की वाष्प लेकर आकाश में जाते हैं और पानी बरसाते हैं ।

मनुष्य को अपने सभी उद्योगों में अग्नि शक्ति का आश्रय लेना होगा । वह शक्ति वाष्प के रूप में हो, विद्युत् के रूप में हो या अणुशक्ति के रूप में, सब में अग्नितत्त्व ही प्रधान है ।

वेदमाता का आदेश है कि अग्नि प्रदीप्त करते हुए हमारे मन में यही भावना होनी चाहिये कि मैं यज्ञ कर रहा हूँ, यज्ञीय अग्नि को प्रदीप्त कर रहा हूँ । प्रत्येक कार्य में यज्ञ की

भावना रखने से ही यह भावना जाग्रत् होगी।

ब्रह्माण्ड में जो व्यापक यज्ञ चल रहा है, यह भी उसके ही अंग हैं। हम जो अग्नि जलाते हैं, अग्नि शक्ति से जो कार्य सिद्ध करते हैं, वह भी व्यापक विश्वयज्ञ में अर्पित कर देना चाहिए। तभी हम विश्वयज्ञ में सहयोग दे सकेंगे।

यज्ञ की भावना समर्पण की भावना है। किसी ऊँचे कल्याणकारी लक्ष्य के लिए किया गया प्रयत्न ही यज्ञ कहलाता है। इस समर्पण भावना से जीवन पवित्र होता है। यज्ञमय जीवन का प्रत्येक कार्य यज्ञ के अर्पण होना चाहिए।

समर्पण करते हुए हम स्वयं देवताओं के हव्य बन जाते हैं। इससे हमारे जीवन को गौरव मिलता है। कार्य तो बिना विशेष भावना के भी किया ही जाता है और कार्य सम्पन्न भी हो ही जाता है। अग्नि भी जलाई जाती है। किन्तु यदि उसका प्रज्वलन आर्थिक लाभ या विनाश के लिए किया गया तो वह अग्नि यज्ञाग्नि नहीं बनती। उसके साथ भावना का योग नहीं होता।

वेदमाता का आदेश है कि अपने प्रत्येक कार्य को यज्ञ-भावना से करो। अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनाओ। यश से उसे उज्ज्वल करो। पुरुषार्थ से वैभव अर्जित करो, किन्तु उसका उपयोग परोपकार में करो। अपने धन को हवि बनाकर यज्ञ की अग्नि में आहुत कर दो। यह कार्य केवल मन के संकल्प से ही पूरा हो सकता है। इससे कार्यविधि में अन्तर आये न आये, कार्य करने वाले मनुष्य का जीवन अवश्य ऊंचा होगा। और उसके साथ समस्त समाज गौरवान्वित होगा।

१११

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम् ।
परो यदिध्यते दिवि ।।

ऋक् : ८।६।३० ।।

(**आत् इत्**) यज्ञाग्नि पर श्रद्धा रखने से साधक (**वासरम्**) जीवन में आनन्द रस का संचार करने वाली (**प्रत्नस्य रेतसः**) जगत् के सनातन कारण का, उस (**ज्योतिः पश्यन्ति**) ज्योति का अनुभव कर लेता है, (**यत् परः दिवि इध्यते**) जो दूर-दूर के देवलोकों में प्रज्वलित है।

अग्निहोत्र करते हुए यज्ञनिष्ठ व्यक्ति यदि यज्ञ की प्रक्रिया और उसकी भावना का चिन्तन करे तो उसे अनेक लाभ होते हैं। वातावरण का शुद्ध होना सबसे पहला लाभ है जो उसे प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त प्रज्वलित अग्नि को समक्ष देखकर स्वयं अग्निवत् प्रज्वलित रहने की धारणा भी हृदय में स्थिर होती है। अग्निशिखा के ऊर्ध्वगामी होने से स्वयं उत्कर्षशील होने का संकल्प भी मन में जाग्रत् होता है। अग्नि की ऊष्मा का अनुभव करके जो सुख प्राप्त होता है वह हृदय की ऊष्मा, करुणा, दया, सहानुभूति आदि मानव भावनाओं में व्यक्त होती है। अग्नि की भांति कल्याणकारी रहने का संकल्प भी मन में उदित होता है।

इन सब लौकिक अनुभूतियों के अलावा एक अलौकिक अनुभूति यज्ञाग्नि से जाग्रत् होती है। यज्ञीय व्यक्ति को समस्त विश्व में चलने वाले विश्व यज्ञ का अनुभव भी स्वयं होने लगता है। उसकी दृष्टि जब विश्व में सर्वत्र व्याप्त ज्योति की ओर जाती है तो वह उस ज्योति को प्रकाशित करने वाले विश्वयज्ञ का चिन्तन करने लगता है जो पूरे ब्रह्माण्ड में चल रहा है। उसका मन स्वयं साक्षी देता है कि समस्त ब्रह्माण्ड में चलने वाले यज्ञ का एक अधिष्ठाता है, जो यह सब अनुष्ठान विधिवत् कर रहा है। वह स्वयं इस यज्ञ में आहुति दे रहा है। विश्व के चेतन-अचेतन पदार्थ उसकी समिधा का काम कर रहे हैं। उसकी समिधाओं का कभी क्षय नहीं होता। उसका यज्ञ भी अनन्त है और उसमें आहुत होने वाली समिधाएँ भी अनन्त हैं। तभी उस यज्ञ से अनन्त प्रकाश पैदा होता है और अनन्त काल तक यज्ञ का अनुष्ठान चलता है।

यज्ञीय श्रद्धालु व्यक्ति को यह अनुभूति भी हो जाती है कि वह स्वयं भी इस बृहत् यज्ञ की एक समिधा है। परम ब्रह्म के हाथ की समिधा बनकर विश्वाग्नि में भस्म हो जाने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। यही मानव जन्म का गौरव भी है। इस सार्थकता की अनुभूति से मनुष्य-हृदय में गौरव की भावना पैदा होती है। अन्यथा यदि वह अपने तक ही सीमित रहे और अकेले रहकर जीने की लाचारी का अनुभव करे तो उसे अपना जीवन पूर्णतः खण्डित प्रतीत होगा। खण्डित जीवन बिताने की अनुभूति हृदय में निराशा और व्यर्थता का विषाद भरती है। वेदमाता का आदेश है कि यज्ञमय जीवन बिताओ और विश्वयज्ञ का अंग बनकर गौरवान्वित अनुभव करो।

११२

अग्ने मृड महाँ असि य आ देवयुं जनम् ।
इयेथ बर्हिरासदम् ॥

साम पूर्वा १।३।३ ॥

(**अग्ने मृड**) हे अग्निदेव कृपा करो (**महान् असि**) तुम महान् हो । (**देवयुम् जनम् आ अयः**) देवों के प्रति श्रद्धालु व्यक्ति के हृदय में तुम्हारा आगमन होता ही है । (**बर्हिः आसदम् इयेथ**) कुशासन पर बैठे तपस्वियों के जीवन में तुम्हारा निवास हो ।

देवताओं के प्रति आदर रखने वाले उनके गुणों का अनुकरण करके स्वयं दिव्य बनने के लिए प्रयत्नशील साधक के हृदय में प्रतिक्षण उत्साह रहता है, आनन्द रहता है। इस आनन्द को ही यहाँ अग्नि कहा है । मन उदास हो तो काम में भी शिथिलता आ जाती है । इस उदासी का मूल कारण प्रायः यही होता है कि मनुष्य अश्रद्धालु हो जाता है, संशयशील होता है । 'संशयात्मा विनश्यति'—वाक्य बिलकुल यथार्थ है । आधे मन से कोई काम पूरा नहीं होता । संशय दूर होने पर ही पूरे दिल से काम किया जाता है और जो काम पूरे दिल से किया जाएगा वह अवश्य अभीष्ट फल देने वाला होगा ।

अतः साधक को अपने हृदय की आग कभी बुझने नहीं देनी चाहिए । बुझने का डर तभी होता है जब मन डांवाडोल

हो। कहीं टिकता न हो। उसे टिकाने का अचूक उपाय श्रद्धावान् बनना है। श्रद्धावान् बनने की धारणा करके ही श्रद्धावान् बना जाता है। अन्यथा संशयालु रहना ही स्वभाव बन जाता है। प्रत्येक बात पर सन्देह करना भी उस मनुष्य का स्वभाव हो जाता है जिसे भले-बुरे की परख नहीं होती। परखने के बाद भी साधारण मनुष्य अनास्थावान् रहता है। अनास्था उसके स्वभाव में आ जाती है। साधक को चाहिए कि वह इस कमजोरी पर विजय पाये। तभी वह दृढ़ता से श्रेष्ठ मार्ग पर आगे बढ़ सकेगा।

आगे बढ़ने का मार्ग सदा कंटीला होता है। कंटीली कुशा पर पैर रखते हुए ही साधक लोकोपकार के कार्य कर सकता है। त्याग-तपस्या के मार्ग पर चलने वाला ही संसार का कल्याण करेगा। दूसरों के दुःख अपने पर झेलने वाला ही दूसरों के दुःख दूर करने का साहस कर सकता है। कष्टों से घबरा कर पीछे लौटने वाले कभी कल्याण-मार्ग पर नहीं चल सकते। इस मार्ग पर तो वही आगे आयेगा जिसके हृदय में आग होगी, अपने जीवन को दूसरों के हित समर्पण करने की सच्ची चाह होगी।

त्याग तपस्यामय जीवन इस यज्ञाग्नि के आश्रय पर ही तेजस्वी रहता है। इस राह में कोई अन्य प्रलोभन ऐसा नहीं जिसके लोभ में साधक अपनी यात्रा पूरी कर सके। यह पवित्र यज्ञाग्नि ही उसका पाथेय है। इस यज्ञ-ज्योति को हृदय में धारण करके तपस्वी साधक संसार के अन्धकारमय दुर्गम रास्तों को भी सहज पार कर जाता है। इसीलिए साधक अपने कुशा-कठोर मार्ग पर यज्ञाग्नि का आह्वान करता है।

११३

**अग्ने रक्षाणो अँहसः प्रति स्म देव रीषतः ।
तपिष्ठैरजरो दह ॥**

साम पूर्वा० : १।३।४ ॥

(**अग्ने ! अंहसः नः रक्ष**) हे अग्निदेव पापों से हमारी रक्षा कीजिए । (**त्वम् अजरः**) तुम जरा रहित हो (**तपिष्ठै रीषतः**) अपने अत्यन्त तापजनक प्रभावों से विनाशक शक्तियों को (**प्रति स्म दह**) जलाकर राख कर दो ।

जैसे संसार में विनाश और निर्माण दोनों तत्त्व एक साथ कार्य करते हैं, दोनों में सदा संघर्ष चलता है, इसी प्रकार मनुष्य जीवन में भी रचनात्मक और विघातक प्रवृत्तियां कार्य करती रहती हैं । एक प्रवृत्ति मनुष्य को मृत्यु की ओर ले जाती है; दूसरी उसे जीवन की ओर लाती है ।

मनुष्य-शरीर में भी इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि असंख्य कृमि हैं जिनमें से कुछ जीवन के शत्रु हैं और कुछ जीवन के मित्र हैं । मनुष्य शरीर तब तक ही स्वस्थ रहता है जब तक मित्र प्रवृत्ति वाले कृमियों की प्रबलता रहती है । इन मित्र कृमियों की सहायता से ही हमारी जीवन-अग्नि प्रज्वलित रहती है ।

युवावस्था में जीवन की यह अग्नि अपने उज्ज्वलतम रूप में रहती है । इसीलिए यौवन में मनुष्य रोगों का शिकार नहीं होता । किन्तु हम विलासी होकर क्षणिक सुख के लोभ में इस

पवित्र जीवन अग्नि का विनाश कर देते हैं। अतिशय भोग से यह अग्नि मन्द हो जाती है। इसके मन्द होते ही शरीर के शत्रु कृमि रोग का रूप धारण करके मनुष्य को मृत्यु की ओर ले चलते हैं। हमारे रुधिर में जो घातक कृमि हैं वे हमारे जीवन-रक्षक कृमियों पर अधिकार कर लेते हैं।

मनुष्य को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए कि इन घातक कृमियों के प्रभाव से जीवन-अग्नि की रक्षा करे। तभी वह रोग-रहित दीर्घायु बिता सकेगा। भौतिक क्षेत्र में जैसे जीवन-अग्नि को प्रचण्ड रखने से शरीर के रोग नष्ट होते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में यज्ञाग्नि प्रदीप्त करने से मन के विकार नष्ट होते हैं। जिसके हृदय में यज्ञीय अग्नि प्रज्वलित होगी उसे पापों से दूर रहने का विशेष प्रत्यन नहीं करना पड़ेगा। पाप भावनाएँ स्वयं उस तेजस्वी आत्मा वाले व्यक्ति से दूर रहेंगी।

यज्ञ की यह पवित्र अग्नि अक्षय है, अजर है। एक बार प्रदीप्त होने पर इसका वर्चस्व बढ़ता ही रहता है। स्वार्थ भाव छोड़कर सत्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति की सहायता स्वयं देवाधिदेव परमात्मा करते हैं। वही सम्पूर्ण विश्वयज्ञ के अधिष्ठाता हैं। प्रभु के मार्ग पर चलने वाले यज्ञ-पुरुष के हृदय में सदा उत्साह और उमंग की आग जलाये रखते हैं। ऐसा वीतरागी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख-दुःख, मानापमान की चिन्ता छोड़कर निरन्तर कर्मशील रहता है। वह सच्चा कर्मयोगी बन जाता है। जीवन के युद्ध में जय-पराजय की चिन्ता त्यागकर वह धर्म और न्याय के पक्ष में अपनी पूरी शक्ति से युद्ध करता है। ऐसे सत्यपरायण साधक को कभी पराजय का मुख नहीं देखना पड़ता। 'सत्यमेव जयते' के अनुसार उसकी जय सुनिश्चित रहती है।

११४

**तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।
तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः ।।**

ऋक् : ९।६२।२७ ।।

(सोमः ! कवे ! महिम्ने) हे सुन्दर ज्ञानी महिमाशाली जीव । **(तुभ्य इमा भुवनाः)** तेरे लिए ही ये विश्व-ब्रह्माण्ड के लोक लोकान्तर हैं । **(तुभ्यम् अर्षन्ति सिन्धवः)** समुद्र तेरी ही सेवा करते हैं ।

सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ प्रभो साम्यावस्था प्राप्त प्रकृति को प्रबुद्ध करके पुनः-पुनः सृष्टि-निर्माण करते हैं । प्रभु के संकल्प मात्र से सृष्टि का संयोजन प्रारम्भ हो जाता है । इसका प्रयोजन एक ही है । कर्म-भोग के लिए जीव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है । भगवान् जीव के कर्म-भोग के लिए ही सृष्टि का संयोजन करते हैं ।

सृष्टि में जो कुछ चेतन है वह जीव है । प्रकृति की शक्तियाँ कितनी ही बलवती हों उनमें स्वतन्त्र चैतन्य नहीं है । उन्हें परिचालित करने के लिए किसी चेतन शक्ति की आवश्यकता है । जीव चैतन्यशक्ति से सम्पन्न है । वह प्राकृतिक शक्तियों का सेवन करता है । जीव के लिए ही प्रकृति के विधान बने हैं । जीव कितनी ही छोटी देह का स्वामी हो, चेतन होने से उसका महत्त्व अचेतन शक्तियों से अधिक हो जाता है ।

वेदवाणी के माध्यम से प्रभु स्वयं जीव को संदेश देते हैं कि तेरे लिए सब भुवन पृथिवी-आकाश-अन्तरिक्ष को रचना हुई है और तुझे अनुप्राणित रखने के लिए ही सृष्टि का विधान बना है। सूर्य की ऊष्मा, वायु का प्रवाह, चाँद की शीतलता सब का लक्ष्य जीव की प्राणधारा को सदा प्रवाहित रखने के निमित्त ही है। वनस्पति-जगत् में विविध फूलों का खिलना, अन्न की उत्पत्ति, वृक्षों की वृद्धि सबका प्रयोजन प्राणिजगत् को नये प्राण देना और उसे पुष्ट करना ही है।

ईश्वर के हृदय में जीव के लिए अपार अनुकम्पा है, करुणा है, दया है। जो जीव ईश्वर की इस करुणा के प्रति हृदय से कृतज्ञता अनुभव करते हैं उनका मन शान्त रहता है। उन्हें ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है। ईश्वर के इस अपार वैभव का प्रयोजन जीव को सुख, समृद्धि का भागीदार बनाना है— इस सचाई को जो मनुष्य जान लेते हैं उन्हें कभी दीन और हीन भावना का शिकार नहीं होना पड़ता। उनके जीवन को नया गौरव मिल जाता है। वे अपनी ही दृष्टि में बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। उनका आत्मविश्वास अधिक हो जाता है। संसार की छोटी-मोटी विपत्तियों की वे कभी चिन्ता नहीं करते।

वेद ने कहा है पृथिवी और आकाश के सब देवता प्राणियों विशेषतः मनुष्य की सुख, समृद्धि के साधन बनते हैं। अनन्त जल के भण्डार सागर भी प्राणियों की सेवा में तत्पर रहते हैं। सागर से पानी खींचकर ही सूर्य उसे वर्षा के रूप में पृथिवी को देता है। सागर का यह प्रतिदान अनमोल है। वर्षा से ही अन्न-वनस्पति बनते हैं। सागर जल न दे तो पृथिवी की अन्नोत्पादक शक्ति निष्प्रयोजन हो जाय।

परमेश्वर की इस अपार अनुकम्पा को समझ कर श्रद्धा-पूर्ण हृदय से ईश्वर-नियोजित कर्म करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

११५

अग्नि मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावकशोचिषम् ।
हृद्भिर्मन्द्रेभिरीमहे ।।

ऋक् : ८।४३।३१ ।।

(**मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं**) अत्यन्त मधुर, प्रिय और आनन्दप्रद (**पावकशोचिषम्**) स्वयं पवित्र और शुभ (**अग्नि**) ज्योति का (**मन्द्रेभिः हृद्भिः ईमहे**) हम आनन्द विभोर हृदय से अभिनन्दन करते हैं ।

परमेश्वर की ज्योति परम शक्तिशालिनी और प्रचंड भी है और शीतल तथा मधुर भी है । सूर्य में वही ज्योति इतनी ऊष्म है कि समस्त ब्रह्माण्ड की ऊष्मा का स्रोत है किन्तु चांद और ग्रह नक्षत्रों में वह इतनी शीतल है कि विश्व की प्रज्वलित शिखाओं को शान्त कर दे ।

उसकी मधुर आभा ही नवकलिकाओं की कोमल पंखुरियों में चमकती है । वही अग्नि सागर के वक्ष में दावानल बनकर ज्वार लाती है और वही शीतल बनकर हिमशिखरों की शोभा बढ़ाती है, शीतल समीर बनकर उसकी ही ज्योति फूलों में रस भरती है और अग्नि स्फुलिंग बनकर वही वन-वनान्तर को भस्म कर देती है ।

वही ज्योति है जो मनुष्य के हृदय में प्रेम और करुणा

का रूप बनकर विश्व-कल्याण का हेतु बनती है; मां के दिल में ममता बनकर सन्तान का पालन-पोषण करती है।

साधक को चाहिए कि वह प्रेम विह्वल हृदय से उस परम प्रिय ज्योति को—ज्योति के स्रोत ईश्वर का प्रेम से स्मरण करे। प्रेम से स्मरण करने वाले श्रद्धालु भक्त के लिए ईश्वर प्रेम की मूर्ति बनकर दर्शन देता है।

ईश्वर के प्यार का रास्ता बड़ा सीधा है। दूसरे मार्ग कण्टकाकीर्ण हैं। तप और त्याग के रास्ते भी दुर्गम हैं। उन रास्तों पर पैर फिसलने का डर रहता है। प्रेम की राह में डगमगाने का डर नहीं होता।

ईश्वर से प्रार्थना करते रहना स्वर्गमूलक है। उसे जो देना है वह बिना मांगे भी देता है। प्रार्थना नहीं प्यार करो। दुनिया के बादशाह के आगे छोटी-मोटी भीख के लिए हाथ न पसारो।

ईश्वर का स्मरण अति उमंग से करो, मन-मस्तिष्क को उसमें ही तन्मय करके करो—मानो तुम्हें कोई खजाना मिल गया है। ईश्वर के प्रेम का खजाना सब से बड़ा खजाना है।

ईश्वर का प्रेम ही मनुष्य को संसारी मायाजाल के झूठे कष्टप्रद बन्धनों से मुक्त कर सकता है। आनन्दमय प्रभु के साथ नाता जोड़कर ही मनुष्य भी आनन्दमय होने की आशा रख सकता है। जो ईश्वर को भूल जाते हैं—वही माया के जाल में फंसते हैं।

जो ईश्वर से प्रेम करते हैं—प्रभु के सामने दिल खोलकर रख देते हैं उन्हें प्रभु की रहस्यमय वाणियों में सत्य के दर्शन हो जाते हैं। उनके लिए अनन्त आनन्द का द्वार खुल जाता है।

११६

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० :

(येन उग्रा द्यौः दृढा पृथिवी च स्तभितम्) जिस जगन्नियन्ता ने विशाल द्युलोक और कठोर पृथिवी को अपने नियमों में स्थिर किया हुआ है । **(येन स्वः, नाकः स्तभितम्)** जिसके अनुशासन में अन्तरिक्ष तथा इतर ग्रह, नक्षत्र शाश्वत नियमों में कार्य कर रहे हैं **(यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः)** जिसके संचालन में अन्तरिक्ष की गतिशील, ज्योतिर्मयी शक्तियां कार्य कर रही हैं । **(कस्मै देवाय हविषा विधेम)** हम उस आनन्दमय परम पुरुष का आराधन करते हैं ।

इस अनन्त ब्रह्माण्ड के रहस्यों का पूरा ज्ञान अभी तक अल्पमति मानव को नहीं हो पाया । अनादिकाल से द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा अन्य ज्ञात-अज्ञात लोकों का संचालन कैसे हो रहा है ? किस विधि-विधान से हो रहा है ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर अभी तक कोई भी जान नहीं पाया ।

भौतिक विज्ञान के विद्वान् अपने पार्थिव उपकरणों से इस रहस्य को खोलने की जितनी कोशिशें कर रहे हैं—उनसे यह रहस्य और भी गहन होता जा रहा है ।

अन्तरिक्ष में असंख्य गतिशील ज्योतिर्मय ग्रह, नक्षत्र गतिशील हैं। स्वयं अन्तरिक्ष की विशालता अपरिमित है। एक सौर-मण्डल का क्षेत्रफल ही इतना विराट् है कि मनुष्य की बुद्धि में नहीं समाता। १९ करोड़ ७० लाख वर्ग मील क्षेत्रफल वाली यह विशाल पृथिवी जो सूर्य से ९ करोड़ ३० लाख मील दूर है, प्रति घण्टा ६ लाख ६६ हजार मील के वेग से घूमती हुई ३६५ दिन में सूर्य की परिक्रमा कर पाती है।

सूर्य से पृथिवी की दूरी बहुत होते हुए भी उस दूरी की अपेक्षा कुछ नहीं जो शनि नक्षत्र से सूर्य की दूरी है। शनि सूर्य से ८८ करोड़ ५० लाख मील दूर है।

अन्तरिक्ष के इन रहस्यों की पूरी जानकारी न कभी किसी को हुई और न किसी को होने की आशा है। तभी हमारे ऋषियों ने भौतिक उपकरणों से परम सत्य को जानने का यत्न छोड़कर आत्मिक शक्ति से ही सत्य का ज्ञान पाने की कामना की थी।

यह संसार जितना भौतिक है उससे कहीं अधिक आत्मिक है। आत्मा के अन्तर्ज्ञान से ही इस आत्मप्रधान सत्य के साक्षात्कार की आशा हो सकती है। तभी वेदमाता सत्य-साधक को परमात्मशक्ति की शरण में जाने का आदेश देती है। परमात्मा की आराधना से, श्रद्धापूर्वक परमात्मा की निकटता प्राप्त करके उसकी कृपा से ही ब्रह्माण्ड के अनन्त रहस्यों का ज्ञान मिल सकता है।

॥ इति ॥